भर्तृहरिविरचितं

नीतिशतकम्

(अन्वय, प्रसंग, शब्दार्थ, सरलार्थ, व्याख्या, संस्कृत-भावार्थ, सन्धिविच्छेद एवं व्याकरणात्मक टिप्पणियों सहित)

डॉ. (श्रीमती) सावित्री गुप्ता

भर्तृहरिविरचित

नीतिशतकम्

(अन्वय, प्रसंग, शब्दार्थ, सरलार्थ, व्याख्या, संस्कृत-भावार्थ सन्धिविच्छेद एवं व्याकरणात्मक टिप्पणियों सहित)

डा० (श्रीमति) सावित्री गुप्ता
लक्ष्मीबाई महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

विद्यानिधि प्रकाशन
दिल्ली

प्रकाशक :

विद्यानिधि प्रकाशन

डी-10/1061 (समीप श्रीमहागौरी मन्दिर)
खजूरी खास, दिल्ली-110094
दूरभाष : 22967638

© प्रकाशक

संस्करण : **2023**

ISBN : 81-86700-75-7

मूल्य : **150/-**

मुद्रक

विशाल कौशिक प्रिंटर्स, दिल्ली-९३

विषयानुक्रमणिका

1. प्राक्कथन 5
2. भूमिका 7
   (क) गीतिकाव्य : सामान्य संक्षिप्त परिचय
   (ख) भर्तृहरि : शतकत्रय
   (ग) नीतिशतक : वर्ण्य-विषय
   (घ) नीतिशतक का साहित्यिक मूल्यांकन
3. नीतिशतकम् : विशद् व्याख्या 13
   (अन्वय, प्रसंग, शब्दार्थ, सरलार्थ, व्याख्या, संस्कृतभावार्थ तथा व्याकरणात्मक टिप्पणी)
4. श्लोकानुक्रमणिका (अकारादि क्रम से) 190

प्राक्कथन

संस्कृत भाषा निस्संदेह प्राचीनतम भाषा है जिसे अनेक भाषाओं की जननी होने का गौरव प्राप्त है। संस्कृत वाङ्मय वह अथाह सागर है जिसमें जितना गहन अवगाहन किया जाए उतने ही बहुमूल्य रत्न उसमें से प्राप्त किए जा सकते हैं। यह ऐसा रत्नाकर है जिसमें से असंख्य रत्नों को प्राप्त कर लेने पर भी उसमें विद्यमान रत्नों में कमी नहीं आने पाती। इसके अतिरिक्त इसमें उपलब्ध विभिन्न विषयक सामग्री अध्येताओं को गम्भीर एवं गवेषणात्मक चिन्तन के लिए प्रेरित करती रहती है। जितना एकाग्रचित होकर इसके अंगों-उपांगों का अध्ययन मनन किया जाता है उतना ही अधिक आकर्षित करता है यह साहित्य। गद्यकाव्य-महाकाव्य-ऐतिहासिक महाकाव्य-गीतिकाव्य किसी भी क्षेत्र में अध्ययन करें, इसमें विद्यमान विपुल सामग्री शोध विषयक चिन्तन के लिए प्रेरणास्रोत बनकर आकर्षित करती है।

आचार्य भर्तृहरि संस्कृत गीतिकाव्य में गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। उनके द्वारा रचित नीतिशतक उपदेशात्मक नीतिपरक सूक्तियों का कोष है। उत्तम जीवन यापन करने के लिए यह प्रेरणापुञ्ज है। संघर्षमय आधुनिक युग में तो आचार्य भर्तृहरि द्वारा दिए गए उपदेश और भी अधिक सामयिक हो जाते हैं।

दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रथम वर्ष बी॰ ए॰ प्रोग्राम, बी॰ ए॰ संस्कृत विशेष तथा बी॰ ए॰ गौण इन विभिन्न पाठ्यक्रमों में भर्तृहरि विरचित नीतिशतक निर्धारित पुस्तक है। इसकी सुन्दर उपदेशात्मक सूक्तियों का गहन चिन्तन ही प्रस्तुत कृति की रचना का उद्देश्य है। यहां लेखिका ने यथा सम्भव छात्रोपयोगी सामग्री प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। संस्कृतानुरागियों के लिए यह प्रयास थोड़ा सा भी लाभान्वित हो पाए, उनकी ज्ञान पिपासा में यह थोड़ी सी भी अभिवृद्धि कर पाए- इसी आकांक्षा के साथ प्रस्तुत है नीतिशतक की विस्तृत व्याख्या।

सावित्री गुप्ता

भूमिका

संस्कृत निस्संदेह भारतवर्ष की प्राचीनतम भाषा है, यह अनेक भारतीय भाषाओं की जननी है- यह सर्वमान्य तथ्य है। संस्कृत वाङ्मय अपनी प्राचीनता, प्रचुरता एवं वैभव सम्पन्नता के लिए विश्वविख्यात है। इसी कारण संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य इतना सम्पन्न एवं समृद्ध है कि विश्व का ऐसा कोई भी साहित्य नहीं जो इससे समानता रखता हो।

सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-वैदिक संस्कृत साहित्य तथा लौकिक संस्कृत साहित्य। वैदिक संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत संहिता ग्रन्थ, ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदाङ्ग तथा सूत्र-ग्रन्थ आदि सम्मिलित किए जाते हैं तथा लौकिक संस्कृत साहित्य में रामायण, महाभारत, पुराण, गद्यकाव्य, महाकाव्य, ऐतिहासिक-महाकाव्य, गीतिकाव्य, रूपक आदि सभी का समावेश किया जाता है।

सम्पूर्ण लौकिक-संस्कृत-साहित्य को सर्वप्रथम दो भागों में विभाजित किया जाता है-श्रव्यकाव्य तथा दृश्यकाव्य। श्रव्य काव्य को पुनः तीन भागों में विभाजित किया जाता है-गद्यकाव्य, पद्यकाव्य तथा चम्पूकाव्य (अथवा मिश्रकाव्य)। इनमें से पद्यकाव्य के पुनः दो भेद होते हैं-

महाकाव्य तथा खण्डकाव्य।

खण्डकाव्य का ही दूसरा एवं प्रसिद्ध नाम गीतिकाव्य है।

(क) गीतिकाव्य : सामान्य संक्षिप्त परिचय

गीतिकाव्य निस्संदेह वाङ्मय का एक अत्यंत रमणीय अङ्ग है। गीत या गीति का अर्थ सामान्यतः 'गाना' समझा जाता है परन्तु संस्कृत साहित्य में जिन काव्यों में कवित्व के साथ-साथ संगीतात्मकता भी होती है परन्तु महाकाव्य के समस्त लक्षण घटित नहीं होते उन्हें गीतिकाव्य कहते हैं। इनमें संगीत की प्रधानता होती है तथा यहाँ मानव-जीवन के एक ही प्रमुख पक्ष अथवा घटना का चित्रण होता है। यहां भावपक्ष और कलापक्ष दोनों की प्रधानता रहती है। यहां प्रायः नारी के सौन्दर्य का, जीवन के विभिन्न पक्षों का तथा प्रकृति का अत्यंत सुन्दर एवं स्वाभाविक चित्रण उपलब्ध होता है।

गीतिकाव्य का उद्भव अत्यंत प्राचीन काल-ऋग्वेद के समय से हुआ माना जाता है। रामायण, महाभारत, पुराणों आदि में भी गीति-तत्त्वों के दर्शन होते हैं किन्तु लौकिक

साहित्य में गीतिकाव्य की परम्परा को स्वतंत्र रूप में आरम्भ करने का श्रेय कवि शिरोमणि कालिदास को ही जाता है।

संस्कृत में गीतिकाव्य दो रूपों में उपलब्ध होता है–मुक्तक तथा प्रबन्ध। मुक्तक गीतिकाव्य काव्य का वह स्वरूप है जिसमें प्रत्येक पद्य अपने आप में पूर्णतः मुक्त अर्थात् स्वतन्त्र होता है किन्तु प्रबन्ध गीतिकाव्य में किसी एक घटना का क्रमबद्ध विवेचन होता है तथा वर्ण्य-विषय की दृष्टि से प्रत्येक श्लोक एक दूसरे पर निर्भर करता है। कवि कुलगुरु कालिदास द्वारा विरचित 'मेघदूत' सुप्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट प्रबन्ध गीतिकाव्य है।

अपनी अमर कृतियों के माध्यम से संस्कृत गीतिकाव्य की महिमा तथा गरिमा को दिग्दिगन्त में फैलाने वाले कवीश्वरों के मध्य भर्तृहरि का नाम भी अत्यंत आदर के साथ लिया जाता है। इनके द्वारा रचित शतकत्रय संस्कृत गीतिकाव्य के क्षेत्र में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं–यह निर्विवाद सत्य है।

(ख) भर्तृहरि : शतकत्रय

भर्तृहरि संस्कृत वाङ्मय में उत्कृष्ट कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं किन्तु संस्कृत साहित्य की इस अमर विभूति ने कब, कहां और किस परिवार में जन्म लिया था, उनका पारिवारिक जीवन कैसा था, उनकी प्रतिभा एवं उनके पाण्डित्य का विकास किन परिस्थितियों में हुआ-ये सब बातें आज भी विद्वानों के विवाद का विषय हैं। इनके जीवन के सम्बन्ध में प्रकाश डालने वाली किंवदन्तियों से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि भर्तृहरि का जन्म किसी राजवंश में अवश्य हुआ था। वे असाधारण प्रतिभासम्पन्न कवि थे। किंवदन्तियों के अनुसार उनकी रानी पिंगला की दुश्चरित्रता की घटना ने उन्हें राज्य का परित्याग कर तपस्वी बनने के लिए प्रेरित किया। संसार के कटु अनुभवों से इनके हृदय में उत्कृष्ट वैराग्य उत्पन्न हो गया, अतः इन्होंने राजसी वैभव का परित्याग कर वनों में तपस्वियों जैसा जीवन यापन किया।

संस्कृत गीतिकाव्य के क्षेत्र में भर्तृहरि द्वारा रचित तीन शतक उपलब्ध होते हैं-शृङ्गारशतक, नीतिशतक तथा वैराग्यशतक। तीनों शतक अत्यंत लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध हैं और संस्कृत गीतिकाव्यों में इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

नीतिशतक का सम्बन्ध मानव जीवन के व्यावहारिक विषयों से है। इसी से यह अनुमान लगाया जाता है कि यह कवि की प्रथम रचना है क्योंकि मानव का पारमार्थिक जीवन व्यावहारिक जीवन के बाद की सीढ़ी होता है। इसमें नीति से सम्बद्ध सौ श्लोक हैं जिनमें कवि द्वारा विद्या, वीरता, साहस, मैत्री, परोपकार, उदारता, सदाचार, परिश्रम आदि मानव की उदार वृत्तियों का अत्यंत सरल पदावली में वर्णन किया गया है तथा इन गुणों को ग्रहण करने पर बल दिया गया है। सज्जन-प्रशंसा, मूर्खों का उपहास, दुर्जन-निन्दा, विद्या-महिमा, सद्गुण-माहात्म्य, धन की महत्ता आदि विषयों का यहां अत्यंत सुन्दर विवेचन उपलब्ध होता है। नीतिशतक में प्रतिपादित नीति-सिद्धान्त बिना किसी भेदभाव के समग्र विश्व के लिए कल्याणकारी हैं। उनके शतक पुरुषार्थ के महत्त्व को स्पष्टरूप से

प्रतिपादित करते हैं। इसका प्रत्येक श्लोक नीतिपरक सुन्दर उपदेश प्रदान करता है। यह ग्रन्थ नीतिशास्त्र का अत्यंत प्रसिद्ध एवं उपयोगी ग्रन्थ है जो सभी वर्ग के व्यक्तियों के लिए परम उपयोगी है। श्रेष्ठ मानव कहलाने के लिए नीति का पालन अनिवार्य है तभी मानव जीवन उन्नत एवं सुखी हो सकता है। वस्तुतः नीतिशतक सुन्दर उपदेशात्मक सूक्तियों का आकर ग्रन्थ है-इसमें अतिशयोक्ति नहीं है।

नीतिशतक सम्भवतः कवि की सर्वप्रथम रचना है, इसके बाद श्रृङ्गारशतक तथा सबसे अन्त में वैराग्यशतक। श्रृङ्गारशतक में विविध छन्दों के सौ श्लोक उपलब्ध होते हैं। इसमें अत्यंत ललित एवं मधुर शैली में कवि ने नवयुवतियों के मनमोहक सौन्दर्य एवं श्रृंङ्गार को चित्रित किया है। कवि ने यहां रमणियों की उस मोहनी शक्ति को प्रस्तुत किया है जिसका जादू पुरुषों के हृदय को बलात् आकर्षित कर लेता है। यहां कवि ने श्रृङ्गार रस के आकर्षण का चित्रण करके क्रमानुसार उसकी अस्थिरता को दिखाकर शान्त रस को प्रधानता प्रदान की है। श्रृङ्गार के आकर्षण को उन्होंने निस्सार एवं दुःखद बताया है। इस सबके माध्यम से समाज को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करना कवि का मुख्य उद्देश्य है।

वैराग्यशतक कवि की अन्तिम रचना है जिसमें वैराग्य से सम्बन्धित सौ श्लोक हैं। इसमें कवि ने संसार के भोगों में लिप्त मनुष्यों के प्रति करुणायुक्त होकर संसार की सारहीनता, मानव जीवन की क्षणभंगुरता तथा वैराग्य की महिमा समझाई है। सांसारिक जीवन की निस्सारता के अतिरिक्त युवावस्था की अस्थिरता, विषय-भोग, तृष्णा आदि विषयों का मार्मिक चित्रण भी यहाँ किया गया है। विषय वासनाओं के उपभोग पूर्णतः नाशवान् हैं, अतः विषय भोग जीवन के लक्ष्य होने ही नहीं चाहिएँ।

संसार की समस्त वस्तुओं को भय से पूर्ण बताते हुए कवि ने केवल वैराग्य को ही भय से रहित बताया है। उनके विचार में तपस्वी जीवन ही श्रेष्ठ है क्योंकि तपस्वी ही सांसारिक विषय-वासनाओं से उन्मुक्त होकर जीवन के परम लक्ष्य, परमेश्वर की प्राप्ति में साधनारत रहता है। इस प्रकार पाठकों को वैराग्य की ओर प्रेरित करना ही इस रचना का प्रमुख उद्देश्य है।

वैराग्यशतक कवि की अन्तिम रचना है, क्योंकि इसमें मानव जीवन के अन्तिम प्राप्य का निरूपण किया गया है। वैराग्यशतक के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैराग्य ही उनका वर्ण्य विषय था, वैराग्य-वर्णन ही उनका मुख्य अभिप्रेत था, श्रृङ्गार नहीं। श्रृङ्गार वर्णन तो उनका पूर्वपक्ष था, उत्तर पक्ष वैराग्य ही था। भौतिक भोगविलास से घृणा उत्पन्न कराना कवि को अभीष्ट था। यही कारण है कि कवि ने पहले श्रृङ्गारशतक में सांसारिक भोग विलासों के प्रति मानव का स्वाभाविक आकर्षण चित्रित किया है तथा अन्त में वैराग्यशतक में उसकी सारहीनता तथा तुच्छता दिखाई है।

इस प्रकार आचार्य भर्तृहरि द्वारा रचित शतक जीवन के सभी पक्षों का अत्यन्त सरल

भाषा में स्वाभाविक चित्रण प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि उनके द्वारा दिए गए उपदेश सभी वर्ग के लोगों के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण तथा ग्राह्य हैं।

(ग) नीतिशतक : वर्ण्य-विषय

आचार्य भर्तृहरि द्वारा विरचित नीतिशतक उपदेशात्मक सूक्तियों का विपुल भण्डार है। इसका प्रत्येक श्लोक सुन्दर नीतिपूर्ण शिक्षा प्रदान करता है। अत्यंत सरलभाषा में लिखी गई यह रचना मानव को शांति, संयम, धैर्य आदि अनेक नीतियों की ओर प्रेरित करती है। नीतिपूर्ण जीवनयापन करते हुए ही मानव का सर्वतोमुखी विकास सम्भव है। नीतिशतक में किसी एक विषय का निरूपण न होकर नीतिपरक विभिन्न वर्ण्य-विषयों का स्वतन्त्र निरूपण उपलब्ध होता है, जैसे-

सज्जनों की प्रशंसा, महापुरुषों के लक्षण, दुर्जनों की निन्दा, मूर्खों का उपहास, विद्या-गौरव, विद्वज्जन प्रशंसा, परोपकार, धैर्य, कर्म-महिमा, अर्थ-महिमा, सदाचार-माहात्म्य, सत्यभाषण, सत्सङ्गति, क्षमा, स्वाभिमान, देवप्रशंसा, भाग्यमहत्ता आदि।

इस प्रकार नीतिशतक का प्रत्येक श्लोक न केवल सुन्दर उपदेशात्मक शिक्षा की ओर संकेत करता है अपितु मानव जीवन के उत्थान के लिए भी प्रेरित करता है। उदाहरण के लिए महापुरुषों के सद्गुणों का वर्णन सामान्य लोगों को उन गुणों के आचरण की भी शिक्षा देता है-

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा,
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्।।

अर्थात् विपत्ति में धैर्य रखना, उन्नतिशील स्थिति में भी क्षमाभाव रखना, सभा में वाणी कौशल, युद्ध में पराक्रम, यश प्राप्ति में इच्छशील होना तथा वेदाध्ययन में रुचि रखना-ये सब बातें महात्माओं में स्वभाव से पाई जाती हैं। अतः अन्य लोगों को भी इन गुणों का आचरण करना चाहिए।

विद्यादान आचार्य भर्तृहरि की दृष्टि में सबसे उत्कृष्ट है, अतः राजाओं को भी विद्वानों के साथ स्पर्धा न करके उनका सदा सम्मान करना चाहिए।

संस्कृत वाणी मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ आभूषण है। मनुष्य के अन्य आभूषण नष्ट हो जाते हैं किन्तु संस्कृत वाणी सदा रहने वाला आभूषण है। आचार्य भर्तृहरि के शब्दों में-

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्।।

इस प्रकार आचार्य भर्तृहरि सुन्दर वाणी के प्रयोग के लिए उपदेश दे रहे हैं यहाँ। इसी प्रकार अन्य विषयों का भी उपदेशात्मक ढंग से विवेचन करना कवि की निजी एवं स्तुत्य विशेषता है। प्रत्येक विषय को सरल भाषा में तथा ग्राह्य ढंग से प्रस्तुत करने के कारण ही आचार्य भर्तृहरि द्वारा दिए गए उपदेश विश्वव्यापी हो गए हैं।

(घ) नीतिशतक का साहित्यिक मूल्यांकन

कम से कम शब्दों में अधिक भावों तथा विचारों को सफलतापूर्वक कलात्मक ढङ्ग से अभिव्यक्त करने की क्षमता भर्तृहरि की निजी विशेषता है। इनकी भाषा अत्यंत सरल, सुबोध, परिष्कृत तथा मुहावरेदार है। इनकी शैली प्रसादगुण गुम्फित है, शब्द योजना अत्यंत व्यवस्थित है। भावों को अभिव्यक्त करने की उनमें अद्भुत क्षमता है। उनकी भाषा में स्वाभाविक प्रवाह तथा पदों में लालित्य है। छोटे-छोटे छन्दों में भाषा का प्रवाह तथा पदों का लालित्य अत्यंत आकर्षक है; उदाहरण-

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु।
प्रकृतिरियं सत्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः।।

प्रस्तुत श्लोक का एक-एक शब्द कानों में झङ्कार सी उत्पन्न करता हुआ प्रतीत होता है।

उनके अलङ्कार अनावश्यक रूप से भाषा को बोझिल न बनाते हुए अत्यंत स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त हुए हैं और इस प्रकार वे भाषा के सौन्दर्य में अभिवृद्धि ही करते हैं। कवि के द्वारा प्रयुक्त उपमानों की यह विशेषता है कि वे प्रायः प्रकृति से लिए जाते हैं। वे वर्ण्य-विषय के अनुरूप भी होते हैं। भाग्य के महत्व का वर्णन देखिए-

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किं
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम्।
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणं
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः।।

चरित्रचित्रण में भी भर्तृहरि अत्यंत पटु हैं। सज्जनता का कितना सुन्दर एवं सजीव चित्र अंकित किया गया है यहाँ-

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः।।

अत्यंत सार्थक एवं सारगर्भित पदों का प्रयोग है यहां। कवि ने दैनिक जीवन के गूढ तथ्यों को अत्यंत हृदयहारी ढंग से प्रस्तुत किया है। उनके काव्य का प्रमुख उद्देश्य मानव-जीवन के विविध पक्षों को चित्रित करते हुए सम्पूर्ण समाज को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करना है।

'आत्मसम्मान' जीवन का सर्वस्व है। उसका महत्व बताते हुए वे लोगों को कठिन से कठिन परिस्थिति में भी उसे न त्यागने की शिक्षा देते हैं। उनका एक और महान् आदर्श 'परोपकार' है। परोपकार सज्जनों का स्वाभाविक धर्म बताया गया है। जिस प्रकार वृक्षों का काम फल देना है, मेघों का काम जल देना है, नदियों का काम दूसरों के लिए बहना है, उसी प्रकार सज्जनों का काम दूसरों का उपकार करना है। इसके अतिरिक्त शील का मानवजीवन में बहुत महत्व है। मनुष्य को हर प्रकार से शील की रक्षा करनी चाहिए। इसी प्रकार सत्य, धैर्य, क्षमा, विद्या, विद्वत्ता आदि अन्य गुणों की ओर भी पाठकों को आकर्षित करने का कवि का प्रयास एवं ढंग स्तुत्य है। पाठकों को सद्गुणों को ग्रहण करने के लिए तथा दुर्गुणों के परित्याग के लिए प्रेरित करना ही कवि का प्रमुख उद्देश्य है।

अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण भर्तृहरि को समाज में कवि तथा आचार्य दोनों रूपों में ही लोकप्रियता प्राप्त है।

इस अत्यंत सूक्ष्म भूमिका के साथ प्रस्तुत है नीतिशतक के श्लोकों की विशद् व्याख्या-

नीतिशतकम्

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे।। 1।।

अन्वय :-दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये, स्वानुभूत्येकमानाय शान्ताय तेजसे नमः।

प्रसंग-प्रस्तुत श्लोक में आचार्य भर्तृहरि अपने ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए परब्रह्म के चरणों में नमस्कारात्मक मंगलाचरण प्रस्तुत करते हैं-

शब्दार्थ-[दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये]=दसों दिशाओं तथा तीनों कालों आदि के द्वारा असीमित, अनन्त ज्ञानस्वरूप परब्रह्म को। [शान्ताय] शान्त स्वभाव वाले (ब्रह्म) को। (तेजसे) ज्योतिस्वरूप (ब्रह्म) को। [नमः] मेरा नमस्कार है।

सरलार्थ-दसों दिशाओं तथा तीनों कालों आदि के द्वारा अपरिमित, अविनाशी, चैतन्य स्वरूप, अपने ही अनुभव से जानने योग्य, शान्त तथा ज्योतिः स्वरूप परब्रह्म के लिए नमस्कार है।

व्याख्या-जिस परम ब्रह्म को देश तथा काल आदि किसी सीमा में बांधा नहीं जा सकता अर्थात् जो सदा से सृष्टि के कण-कण में विद्यमान है, जो अनन्त तथा अनादि है, जो चैतन्य स्वरूप है, जो केवल स्वानुभूति का विषय है ऐसे शान्त एवं ज्योतिः स्वरूप परमपिता परमेश्वर को नमस्कार है।

इस प्रकार यह मंगलाचरणात्मक श्लोक है जिसमें कवि अपने इष्ट देवता भगवान् शंकर को भक्ति भावना से ओतप्रोत होकर प्रणाम कर रहा है। **अनुष्टुप् छन्द तथा स्वभावोक्ति अलंकार है यहाँ।**

संस्कृत-भावार्थः-दिक्कालादिभिः असीमिताय अनन्ताय ज्ञानस्वरूपाय स्वानुभूति-वेद्याय शान्तिस्वरूपाय तेजस्वरूपाय च परब्रह्मणे प्रणतिः अस्तु।

व्याकरणात्मक टिप्पणी

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये=दिक्कालादिभिः अनवच्छिन्ना, अनन्ता, चिन्मात्रं मूर्तिः यस्य तत्, तस्मै बहुव्रीहि समास। अनवच्छिन्ना= न अवच्छिन्ना; नञ् तत्पुरुष समास। अवच्छिन्ना=अव उपसर्ग+√छिद्+क्त प्रत्यय+टाप् प्रत्यय। तेजसे=तेजस् शब्द, चतुर्थी वि० एकवचन।

यहाँ 'नमः के योग में 'शान्ताय' तथा 'तेजसे' में चतुर्थी विभक्ति लगी है।

सन्धिविच्छेद–दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये=दिक्कालादि+अनवच्छिन्न+अनन्तचित्+मात्रमूर्तये।

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि तं नरं न रञ्जयति।। 2।।

अन्वयः–अज्ञः सुखम् आराध्यः विशेषज्ञः सुखतरम् आराध्यते, ब्रह्मा अपि ज्ञानलव-दुर्विदग्धम् नरम् न रञ्जयति।

प्रसंग–अल्पज्ञानी घमण्डी मनुष्य के स्वभाव का वर्णन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

शब्दार्थ–[अज्ञः] ज्ञानहीन या मूर्ख। [सुखम्] सरलता से। [आराध्यः] समझाने योग्य होता है। [विशेषज्ञः] विद्वान् को [सुखतरम्] अधिक आसानी से। [आराध्यते] समझाया जा सकता है। [ब्रह्मा अपि] ब्रह्मा भी। [ज्ञानलवदुर्विदग्धम, नरम्] थोड़े से ज्ञान से गर्वित मनुष्य को। [न रञ्जयति] प्रसन्न नहीं कर सकता।

सरलार्थ–ज्ञानहीन मनुष्य को सरलता से समझाया जा सकता है, विशेष ज्ञानी मनुष्य को तो और भी अधिक सरलता से समझा कर सन्तुष्ट किया जा सकता हे किन्तु थोड़े से ज्ञान से दम्भयुक्त मनुष्य को समझाना असम्भव है उसे मनुष्य तो क्या ब्रह्मा भी संतुष्ट नहीं कर सकते।

व्याख्या–बहुत सुन्दर तथ्य को प्रस्तुत करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि बिल्कुल अनजान व्यक्ति को प्रसन्न करना तथा समझाना अत्यंत सरल बात है। इसी प्रकार विशिष्ट ज्ञानी मनुष्य को समझाना तथा सन्तुष्ट करना और भी अधिक सरल है किन्तु थोड़े से ज्ञान के कारण अपने को विद्वान् तथा पण्डितराज समझने वाले दम्भी मनुष्य को संतुष्ट करना असम्भव कार्य है। स्वयं भगवान् भी यदि उसे समझाने का प्रयत्न करें तो उनका भी प्रयत्न निष्फल रहेगा, ऐसा विश्वास है ग्रन्थकार का। इस प्रकार अहंकारी मनुष्य को संतुष्ट करने का प्रयत्न करना ही नहीं चाहिए।

आर्या छन्द तथा **अतिशयोक्ति** अलंकार है यहाँ।

संस्कृत-भावार्थः–ज्ञानविहीनः नरः स्वल्पप्रयासेन प्रसादयितुं शक्यते, एवमेव विशेषज्ञानसम्पन्नः तु अतीव लघुप्रयासेनैव आराधयितुं शक्यते किन्तु स्वं पण्डितं मन्यमानम् अहंकारग्रस्तं नरं तु विधाता अपि प्रसादयितुं न सम्भवति–इति मन्यते ग्रन्थकारः।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

अज्ञः=न जानाति इति अज्ञः, नञ् तत्पुरुष समास।

आराध्यः=आ उपसर्ग √राध्+ण्यत् प्रत्यय।

सुखतरम्=सुख शब्द+तरप् प्रत्यय।

आराध्यते=आ उपसर्ग √राध्+कर्मणि यक्, लट् लकार, प्रथम पु०, एकवचन।

ज्ञानलवदुर्विग्धम्=ज्ञानस्य लवेन दुर्विग्धः, तम् ; तृतीया तत्पुरुषसमास।

रञ्जयति=√रञ्ज् + णिच्+लट् लकार, प्रथम पु॰, एकवचन।

प्रसह्यं मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरा-
त्समुद्रमपि सन्तरेत्प्रचलदूर्मिमालाकुलम्।
भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारयेत्
न तु प्रतिनिविष्टिमूर्खजनचित्तमाराधयेत्।।3।।

अन्वयः–मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात् प्रसह्य मणिम् उद्धरेत्। प्रचलदूर्मिमालाकुलम् समुद्रम् अपि संतरेत्। कोपितम् भुजङ्गम् अपि शिरसि पुष्पवत् धारयेत्। तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तम् न आराधयेत्।

प्रसंग–'हठी एवं मूर्ख व्यक्ति को प्रसन्न करना असम्भव है'–इस भाव को अनेक उद्धरण देकर स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

शब्दार्थः–[मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात्] मगरमच्छ के मुंह की दाढ़ों में से [प्रसह्य] बलपूर्वक [मणिम्] रत्न को [उद्धरेत्] निकाल ले। [प्रचलदूर्मिमालाकुलम्] चंचल लहरों वाले [समुद्रमपि] समुद्र को भी। [संतरेत्] (तैर कर) पार कर ले । [कोपितम्] क्रोधित हुए। [भुजंगमपि] सांप को भी। [शिरसि] सिर पर। [पुष्पवद्] पुष्प की तरह। [धारयेत्] धारण कर ले। [प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तम्] हठी मूर्ख मनुष्य के मन को। [तु] परन्तु। [न आराधयेत्] नहीं सन्तुष्ट किया जा सकता।

सरलार्थ–मगरमच्छ के मुंह की दाढ़ों के बीच में से भी मनुष्य बलपूर्वक मणि को बाहर निकाल सकता है; चंचल लहरों वाले समुद्र को भी पार कर सकता है तथा क्रुद्ध सांप को भी पुष्प के समान सिर पर धारण कर सकता है किन्तु हठी मूर्ख व्यक्ति के मन को कोई प्रसन्न नहीं कर सकता।

व्याख्या–आचार्य भर्तृहरि इस श्लोक में बताना चाहते हैं कि मनुष्य असम्भव कार्य को भी करने में सक्षम हो सकता है किन्तु मूर्ख एवं दुराग्रही (ढीठ) व्यक्ति को कभी किसी प्रकार भी संतुष्ट नहीं किया जा सकता। उनके अनुसार मनुष्य यदि प्रयत्न करे तो मगरमच्छ जैसे हिंसक जीव की दाढों में स्थित मणि को भी बाहर निकालने में सफल हो सकता है; इसी प्रकार ऊपर उठती हुई लहरों वाले समुद्र को भी पार कर सकता है और क्रोधित सर्प को पुष्प की तरह अपने सिर पर भी धारण करने में सक्षम हो सकता है किन्तु दुराग्रही मूर्ख व्यक्ति को संतुष्ट करने में कोई भी सफल नहीं हो सकता। ऐसा व्यक्ति अपने हठ पर अड़ा रहता है तथा वह किसी की कोई बात सुनने को तैयार ही नहीं होता, फिर किसी की बात मानने का तो प्रश्न ही नहीं होता। अतः ऐसे ढीठ मूर्ख व्यक्ति को संतुष्ट करना बिल्कुल सम्भव नहीं, एक घड़ी असम्भव कार्य करना फिर भी सम्भव है।

इस श्लोक में पृथ्वी छन्द तथा अतिशयोक्ति अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–नरः ग्राहस्य मुखात् मणिं निष्कासयितुमपि कदाचित् समर्थः भवेत्,

महातरङ्गैः व्याप्तं समुद्रमपि तर्तुं शक्नुयात् सः, एवमेव क्रुद्धं विषधरमपि पुष्पवत् स्वमस्तके धारयितुं प्रभवेत् किन्तु दुराग्रहयुक्तं मूर्खजनस्य चित्तं सन्तोषयितुं न कदापि समर्थः भवितुं शक्यते।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात्=मकरस्य वक्त्रे दंष्ट्रयोः अन्तरात् ; तत्पुरुष समास।

प्रसह्य=प्र उपसर्ग √सह् +ल्यप् प्रत्यय।

उद्धरेत्=उत् उपसर्ग √धृ ; विधिलिङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

प्रचलदूर्मिमालाकुलम्=प्रचलन्त्यः ऊर्मयः ; तासां मालाभिः आकुलम् ; तत्पुरुष समास।

संतेरत्=सम् उपसर्ग √तृ, विधिलिङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

कोपितम्=√कुप् +णिच्+क्त प्रत्यय।

धारयेत्= √धृ, विधिलिङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तम्=प्रतिनिविष्टः मूर्खजनः (कर्मधारय समास) ; तस्य चित्तम्; षष्ठी तत्पुरुष समास।

आराधयेत्=आ उपसर्ग √राध् ; विधिलिङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धिविच्छेद–

मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात्=मणिम्+उद्धरेत्+मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात्।

प्रचलदूर्मिमालाकुलम्=प्रचलत्+ऊर्मिमालाकुलम्।

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडय-
न्पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः।
कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादयेत्
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्।।4।।

अन्वयः–यत्नतः पीडयन् सिकतासु अपि तैलं लभेत, पिपासार्दितः च सन् मृगतृष्णिकासु सलिलं पिबेत्, पर्यटन् कदाचित् शशविषाणम् अपि आसादयेत्, प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तं तु न आराधयेत्।

प्रसंग–दुराग्रही मूर्ख मनुष्य के स्वभाव के बारे में ही बताते हैं आचार्य भर्तृहरि इस श्लोक में भी।

शब्दार्थ–[यत्नतः] प्रयत्नपूर्वक। [पीडयन्] दबाता हुआ। [पुरुषः] मनुष्य। [सिकतासु] रेत में से। [अपि] भी। [तैलम्] तेल को। [लभेत] प्राप्त कर सकता है। [पिपासर्दितः] प्यास से पीड़ित। [मृगतृष्णिकासु] मृगमरीचिकाओं में। [च] और [सलिलम्] जल को। [पिबेत्] पी सकता है। [पर्यटन्] घूमता हुआ। [कदाचित्] कभी-कभी। [शशविषाणम् अपि] खरगोश के सींग को भी। [आसादयेत्] प्राप्त कर

सकता है। [प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तम्] दुराग्रही मूर्ख मनुष्य के मन को। [तु] तो। [न आराधयेत्] प्रसन्न नहीं किया जा सकता।

सरलार्थ–मनुष्य परिश्रमपूर्वक बालू (रेत) को दबाता हुआ भी तेल प्राप्त कर सकता है, प्यास से व्याकुल होकर वह मृग मरीचिकाओं में भी जल को पी सकता है तथा कभी-कभी घूमता-फिरता हुआ खरगोश के सींग भी प्राप्त कर सकता है लेकिन दुराग्रही मूर्ख व्यक्ति के मन को प्रसन्न नहीं किया जा सकता।

व्याख्या– भर्तृहरि का यह मानना है कि मनुष्य यदि प्रयत्न करे तो वह बालू (रेत) को दबाने से तेल निकाल सकता है, जल का भ्रम उत्पन्न करने वाले रेत के कणों में भी वह जल प्राप्त करके अपनी प्यास को बुझा सकता है तथा इसी प्रकार इधर-उधर घूमता हुआ भी वह खरगोश के सींग भी प्राप्त कर सकता है; इस प्रकार से असम्भव कार्य तो सम्भव हो सकते हैं किन्त दुराग्रही (ढीठ) मूर्ख व्यक्ति के मन को संतुष्ट करना कदापि सम्भव हो ही नहीं सकता। (मूर्ख व्यक्ति अहंकार ग्रस्त होता है अत:) उससे अपनी बात मनवाना बिल्कुल सम्भव नहीं-ऐसा मत है आचार्य भर्तृहरि का।

इस श्लोक में भी **पृथ्वी** छन्द तथा **अतिशयोक्ति** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–मनुष्य: परिश्रमेण मर्दयन् बालूकासु अपि तैलं प्राप्तुं शक्नोति, पिपासित: मृगमरीचिकासु जलं प्राप्तुं सम्भवति, एवमेव इतस्तत: परिभ्रमन् स: कदाचित् शशश्रृङ्गमपि प्राप्तुं समर्थ: भवति किन्तु दुराग्रहग्रस्तमूर्खजनस्य चित्तं प्रसादयितुं न कोऽपि शक्नोति। एवं महता यत्नेन असम्भवमपि सम्भवं कर्तुं सम्भवेत् जन: किन्तु दुराग्रहयुक्तं मूर्खजनचित्तं प्रसादयितुं स न कदापि शक्नुयात्। अत: मूर्खजनस्य आराधनं नैव कर्तव्यम् एवं मन्यते आचार्य भर्तृहरि:।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

पीडियन्= √पीड्+शतृ प्रत्यय, पु°, प्रथमा विभक्ति, एकवचन।

लभेत= √लभ्, विधिलिङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

पिपासार्दित:=पिपासया अर्दित: ; तृतीया तत्पुरुष समास।

मृगतृष्णिकासु=मृगाणां तृष्णिकासु ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

पिबेत्= √पा, विधिलिङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

पर्यटन्=परि उपसर्ग √अट्, शतृ प्रत्यय, पु°, प्रथमा विभक्ति, एकवचन।

शशविषाणम् = शशस्य विषाणम्, षष्ठी तत्पुरुष समास।

आसादयेत् = आ उपसर्ग √सद्+णिच्, विधिलिङ्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

आराधयेत् = आ उपसर्ग √राध्+णिच्, विधिलिङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धिविच्छेद–

पिबेच्च=पिबेत्+च।

कदाचिदपि=कदाचित्+अपि।

पर्यटञ्छशविषाणम्= पर्यटन्+शशविषाणम्।

व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते
छेत्तुं वज्रमणिं शिरीषकुसुमप्रान्तेन संनह्यते।
माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते
नेतुं वाञ्छति यः खलान्पथि सतां सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः।। 5।।

अन्वयः–यः सुधास्यन्दिभिः सूक्तैः खलान् पथि नेतुम् वाञ्छति, असौ बालमृणालतन्तुभिः व्यालं रोद्धुं समुज्जृम्भते, शिरीषकुसुमप्रान्तेन वज्रमणिं छेत्तुं संनह्यते, मधुबिन्दुना क्षाराम्बुधेः माधुर्यं रचयितुम् ईहते।

प्रसंग–'दुष्टों को सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त कराना अत्यंत दुष्कर कार्य है'–इस भाव को अनेक उदाहरणों द्वारा पुष्ट किया जा रहा है इस श्लोक में।

शब्दार्थ–[यः] जो। [सुधास्यन्दिभिः] अमृत की वर्षा करने वाले। [सूक्तैः] अच्छे वचनों से। [खलान्] दुष्टों को। [सताम्] सज्जनों के। [पथि] मार्ग पर। [नेतुम्] ले जाने के लिए। [वाञ्छति] चाहता है। [असौ] वह मनुष्य। [बालमृणालतन्तुभिः] कोमल कमलनाल के तन्तुओं से। [व्यालम्] भयंकर हाथी को। [रोद्धुम्] बांधने के लिए [समुज्जृम्भते] प्रयत्न करता है। (अथवा) [शिरीषकुसुमप्रान्तेन] शिरीष नामक पुष्प के अग्रभाग से। [वज्रमणिम्] वज्र जैसी कठोर मणि को। [छेत्तुम्] काटने के लिए। [सन्नह्यते] प्रयत्न करता है। (अथवा) [मधुबिन्दुना] शहद की एक बूंद से। [क्षाराम्बुधेः] खारे समुद्र की। [माधुर्यम्] मिठास को। [रचयितुम्] बनाने के लिए। [ईहते] इच्छा करता है या चाहता है।

सरलार्थ–जो मनुष्य अपने अमृत बरसाने वाले वचनों के द्वारा दुष्टों को सज्जनों के मार्ग पर लाना चाहता है, वह कोमल कमलनाल के तन्तुओं से भयंकर (मदमस्त) हाथी को बांधने का प्रयत्न करता है अथवा अत्यन्त कोमल शिरीष पुष्प के अग्रभाग से अत्यंत कठोर मणि को काटने का प्रयत्न करता है अथवा वह शहद की एक बूंद मात्र से खारे समुद्र को मधुर बनाना चाहता है।

व्याख्या–प्रस्तुत श्लोक में आचार्य भर्तृहरि बताना चाहते हैं कि मूर्खों को सज्जनों के मार्ग की ओर प्रेरित करना उसी प्रकार असम्भव है जैसे कोमल कमलनाल के रेशों से मदमस्त हाथी को बांधना असम्भव है या जैसे शिरीष जैसे कोमल पुष्प से कठोर मणि को काटना सम्भव नहीं है या जैसे शहद की एक बूंद से विशाल एवं गम्भीर समुद्र के खारे जल को मीठा बनाना सम्भव नहीं। इस प्रकार मूर्ख मनुष्यों को अमृत जैसे मधुर तथा बहुमूल्य वचनों से भी सज्जन बनाने का प्रयास निष्फल ही होता है–ऐसा दृढ मत है आचार्य भर्तृहरि का। मूर्ख मनुष्य दूसरे लोगों की बात सुनने को तैयार ही नहीं होते, अतः उनकी मूर्खता को दूर करने का प्रयत्न निष्फल ही रहता है।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **निदर्शना** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–यथा नरः मृणालसूत्रैः दुष्टगजं रोद्धुं न प्रभवति, यथा शिरीष-

पुष्पधारया हीरकं भेत्तुं न सम्भवम्, यथा च मधुबिन्दुना लवणसमुद्रं मधुरं सम्पादयितुं न सम्भवम् तथैव अमृतवर्षिभिः सुभाषितैः दुष्ट-जनस्य प्रबोधनं कथमपि न शक्यते। इदं प्रयत्नं तु निरर्थकमेव-अयमस्ति विश्वासः आचार्यभर्तृहरेः।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

सुधास्यन्दिभिः=सुधां स्यदन्ते इति सुधास्यन्दीनि तैः, तत्पुरुष समास।

नेतुम् = √नी+तुमुन् प्रत्यय।

वाञ्छति= √वाञ्छ्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

बालमृणालतन्तुभिः=बालमृणालस्य तन्तुभिः; षष्ठी तत्पुरुष समास।

रोद्धुम्=√रुध् + तुमुन् प्रत्यय।

समुज्जृम्भते=सम्+उत् उपसर्ग √जृम्भ्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

शिरीषकुसुमप्रान्तेन=शिरीषकुसुमस्य प्रान्तेन; षष्ठी तत्पुरुष समास।

वज्रमणिम्=वज्रः इव मणिः तम् ; कर्मधारय समास।

छेतुम्=√छिद्+तुमुन् प्रत्यय।

सन्नह्यते=सम् उपसर्ग √नह्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

मधुबिन्दुना=मधुनः बिन्दुः, तेन, षष्ठी तत्पुरुष समास।

क्षाराम्बुधेः=क्षारः चासौ अम्बुधिः, तस्य ; कर्मधारय समास।

रचयितुम्=√रच् + तुमुन् प्रत्यय।

ईहते=√ईह्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धिविच्छेद–

बालमृणालतन्तुभिरसौ=बालमृणालतन्तुभिः+असौ।

क्षाराम्बुधेरीहते= क्षाराम्बुधेः+ईहते।

स्वायत्तमेकान्तगुणं विधात्रा विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः।
विशेषतः सर्वविदां समाजे विभूषणं मौनमपण्डितानाम्।। 6।।

अन्वयः–विधात्रा अपण्डितानाम् स्वायत्तम् एकान्तगुणम् मौनम् अज्ञतायाः छादनम् विनिर्मितम् (इदम्) सर्वविदाम् समाजे विशेषतः विभूषणम् भवति।

प्रसंग–'मूर्खों की मूर्खता को छिपाने के लिए मौन धारण करना एक श्रेष्ठ आभूषण है'–इस विषय को प्रस्तुत करते हुए भर्तृहरि कहते हैं–

शब्दार्थ–[विधात्रा] ब्रह्मा के द्वारा। [अपण्डितानाम्] मूर्खों का। [स्वायत्तम्] अपने ही अधीन। [एकान्तगुणम्] पूर्णतया कल्याणकारी। [मौनम्] चुप रहना। [अज्ञतायाः] मूर्खता का। [छादनम्] ढकने वाला। [विनिर्मितम्] बनाया गया है। [सर्वविदाम्] विद्वानों की। [समाजे] सभा में। [विशेषतः] विशेष रूप से। [विभूषणम्] आभूषण। [भवति] होता है।

सरलार्थ–ब्रह्मा के द्वारा मूर्खों के अपने ही अधीन (सदा उनके पास रहने वाला) पूर्णरूप से हितकारी तथा मूर्खता को छिपाने वाला मौनरूपी साधन बनाया गया है जो विद्वानों की सभा में विशेष रूप से उनका आभूषण होता है (उन्हें सुशोभित करता है)।

व्याख्या–ब्रह्मा ने कृपा करके मूर्खों के लिए उनकी मूर्खता को छिपाने का अत्यंत हितकर साधन 'चुप रहना' बनाया है जो उनके ही अधीन है अर्थात् जो पूर्णतया उनके ही वश में है तथा इससे विद्वानों की सभा में उनकी शोभा भी बढ़ती है। इस प्रकार मौन रहने से मूर्खों की मूर्खता तो छिप ही जाती है साथ ही विद्वानों की सभा में यह उनका आभूषण बनकर उनकी शोभा को भी बढ़ाता है। चुप रहने से उनकी मूर्खता का भी पता नहीं चलता। प्रस्तुत श्लोक में उपजाति छन्द तथा निदर्शना अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–ब्रह्मणा मूर्खाणां कृते स्वाधीनम् अतीव हितकरं मूर्खतायाः छादनं मौनं रचितम् येन विद्वत्समाजे तेषां मूर्खता प्रच्छन्ना तिष्ठति, ते उपहास्यतामपि न यान्ति।

व्याकरणात्मक टिप्पणी :–छदनम्=√छद्+णिच्+ ल्युट् (अन आदेश), नपु०, प्रथमा विभक्ति, एकवचन।

अपण्डितानाम्=न पण्डितः इति अपण्डितः, तेषाम्; नञ् तत्पुरुष समास।

विनिर्मितम्=वि और निर् उपसर्ग, √मा+क्त प्रत्यय।

विधात्रा=वि उपसर्ग √धा+तृच् प्रत्यय, तृतीया विभक्ति, एकवचन।

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित्किञ्चिद्बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः।। 7।।

अन्वयः–यदा अहम् किञ्चित् ज्ञः द्विपः इव मदान्धः समभवम् तदा 'सर्वज्ञः अस्मि' इति मम मनः अवलिप्तम् अभवत्। यदा (मया) बुधजनसकाशात् किञ्चित् किञ्चिद् अवगतम्, तदा 'मूर्खः अस्मि' इति मे मदः ज्वर इव व्यपगतः।

प्रसंग–'थोड़ी सी जानकारी अहंकार को उत्पन्न करने वाली होती है तथा विद्वानों की संगति इस अहंकार की विनाशिका होती है'–इस भाव को प्रस्तुत किया जा रहा है इस श्लोक में–

शब्दार्थ–[यदा] जब। [अहम्] मैं। [किञ्चित्ज्ञः] थोड़ी जानकारी रखने वाला, अल्पज्ञ हुआ। [द्विपः इव] हाथी के समान। [मदान्धः] मदमस्त। [समभवम्] हो गया। [तदा] तब। [सर्वज्ञः अस्मि] मै सब कुछ जानने वाला हूं। [इति] इस प्रकार। [मम मनः] मेरा मन। [अवलिप्तम्] गर्वपूर्ण। [अभवत्] हो गया। [यदा] जब। [बुधजनसकाशात्] विद्वानों की संगति से। [किञ्चित् किञ्चित्] कुछ कुछ। [अवगतम्] समझा, सीखा। [तदा] तब। [मूर्खः] मूर्ख। [अस्मि] हूं। [इति] इस प्रकार। [मे] मेरा। [मदः] अहंकार, गर्व। [ज्वरः इव] ज्वर की तरह। [व्यपगतः] नष्ट हो गया।

सरलार्थ–जब मैं थोड़ा सा जानता था, तो मैं हाथी के समान मद से अन्धा हो गया। जब मैं विद्वानों की संगति में आकर थोड़ा थोड़ा जानने लगा तो 'मैं मूर्ख हूं'– ऐसा समझ कर मेरा गर्व ज्वर की तरह नष्ट हो गया।

व्याख्या–विद्वानों की संगति से मनुष्य का अभिमान बिल्कुल नष्ट हो जाता है–कितना सुन्दर भाव प्रस्तुत कर रहे हैं आचार्य भर्तृहरि। थोड़ी सी जानकारी प्राप्त करके मनुष्य अभिमान से अन्धा होने लगता है, वह अपने आपको सर्वज्ञ मानने लगता है, वह मदमस्त हाथी की तरह गर्वोन्मत्त हो जाता है किन्तु विद्वानों की संगति प्राप्त करके वह शीघ्र ही अपने को मूर्ख अनुभव करने लगता है। वह समझ जाता है कि उसने तो अभी ज्ञान प्राप्त किया ही नहीं है, शास्त्रों का अध्ययन किया ही नहीं है। उसका अहंकार नष्ट होने लगता है और वह ज्ञान अर्जित करने के लिए प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार विद्वानों की संगति कितनी हितकर है–यह तथ्य भी प्रस्तुत किया गया है यहां और साथ ही अहंकारशून्यता ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनिवार्य है–यह भी बताया गया है।

प्रस्तुत श्लोक में शिखरिणी छन्द तथा उपमा अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–अल्पज्ञः अपि सन् मूर्खः स्वात्मानं सर्वज्ञः इति मत्वा गर्वितः भवति किन्तु विद्वज्जनसंपर्केण तस्य मदः नश्यति। सः अवगच्छति यत् सः मूर्खः अस्ति। एवं विदुषां संगत्या एव नरस्य अल्पज्ञानस्य गर्वः नश्यति।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

किञ्जिज्ज्ञः=किञ्चिद् जानाति इति ; तत्पुरुष समास।

मदान्धः=मदेन अन्धः ; तृतीया तत्पुरुष समास।

समभवम्=सम् उपसर्ग √भू, लङ् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन।

सर्वज्ञः=सर्वं जानाति इति, तत्पुरुष समास।

अवलिप्तम्=अव उपसर्ग √लिप्+क्त प्रत्यय।

अभवत्=√भू, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

बुधजनसकाशात्=बुध एव जनः, तस्य सकाशम्, तस्मात् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

अवगतम्=अव उपसर्ग √गम् + क्त प्रत्यय।

अस्मि=√अस्, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन।

व्यपगतः=वि और अप उपसर्ग √गम्+क्त प्रत्यय।

सन्धि विच्छेद–

किञ्चिज्ज्ञोऽहम्=किञ्चिद्+ज्ञः+अहम्।

सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदलिप्तम्=सर्वज्ञः+ अस्मि+इति+ अभवत्+अवलिप्तम्।

बुधजनसकाशादवगतम्=बुधजनसकाशात्+अवगतम्।

मूर्खोऽस्मीति=मूर्खः+अस्मि+इति।

ज्वर इव=ज्वर:+इव।

मदो मे=मद:+मे।

कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं
निरुपमरसं प्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम्।
सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते
नहि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम्।। 8।।

अन्वय:–श्वा कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं निरामिषम् नरास्थि निरुपमरसप्रीत्या खादन् पार्श्वस्थं सुरपतिम् अपि विलोक्य न शङ्कते। हि क्षुद्रः जन्तुः परिग्रहफल्गुतां न गणयति।

प्रसंग–प्रस्तुत श्लोक में कवि बताना चाहते हैं कि नीच व्यक्ति अपने द्वारा अपनाई हुई वस्तु की निस्सारता पर ध्यान नहीं देता।

शब्दार्थ–[श्वा] कुत्ता [कृमिकुलचितम्] कीड़ों के समूह से भरी हुई। [लालाक्लिन्नम्] लार से गीली [विगन्धि] दुर्गन्धयुक्त। [जुगुप्सितम्] घृणायुक्त। [निरामिषम्] मांसरहित। [नरास्थि] मनुष्य की हड्डी को। [निरुपमरसम्] अत्यधिक स्वाद के साथ। [प्रीत्या] प्रसन्नतापूर्वक। [खादन्] खाता हुआ। [पार्श्वस्थम्] समीप में स्थित। [सुरपतिम्] इन्द्र को। [अपि] भी। [विलोक्य] देखकर। [न शङ्कते] नहीं लजाता (परवाह नहीं करता)। [हि] क्योंकि। [क्षुद्रः जन्तुः] नीच प्राणी। [परिग्रहफल्गुताम्] अपनाई हुई वस्तु की तुच्छता को। [न गणयति] नहीं सोचता (उस पर विचार नहीं करता)।

सरलार्थ–कुत्ता कीड़ों से भरी हुई, लार से भीगी हुई, दुर्गन्धपूर्ण, घृणायुक्त तथा मांसरहित मनुष्य की हड्डी को पूर्ण आनन्द के साथ खाता हुआ अपने समीप में स्थित इन्द्र को भी देखकर लज्जित नहीं होता क्योंकि नीच प्राणी अपनी अपनाई हुई वस्तु की तुच्छता की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता।

व्याख्या–प्राणी अपने स्वभाव के अनुसार वस्तु को प्राप्त करके उससे पूर्ण संतुष्टि प्राप्त कर लेता है। महान् प्राणी श्रेष्ठ वस्तु को प्राप्त किए बिना संतुष्ट नहीं होता किन्तु नीच प्राणी तुच्छ वस्तु से ही असीम सन्तोष प्राप्त कर लेता है। कुत्ते का उदाहरण देकर कवि इस भाव को प्रस्तुत करते हुए यहां बताते हैं कि कुत्ता कीड़ों से व्याप्त, लार से गीली, दुर्गन्धमय, घृणाजनक तथा मांसरहित हड्डी को चाटता रहता है, उससे उसे अत्यंत संतोष मिलता है। उस समय यदि स्वयं इन्द्र भी वहां उपस्थित हो जाएं तो उसे लज्जा अनुभव नहीं होती क्योंकि यह सत्य है कि नीच व्यक्ति को अपनी वस्तु तुच्छ होते हुए भी तुच्छ नहीं लगती। वह अपने द्वारा प्राप्त वस्तु को ही श्रेष्ठ समझता है और उसे छोड़ता (त्यागता) नहीं है। इसी प्रकार नीच व्यक्ति निन्दनीय कार्य करने से भी नहीं चूकता, घृणित कार्य करने में भी उसे लज्जा अनुभव नहीं होती।

प्रस्तुत श्लोक में **हरिणी** छन्द तथा **अर्थान्तरन्यास** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–यथा कुक्कुरः कीटैः व्याप्तं, दुर्गन्धमयं, निर्मासम् अस्थि खादन् समीपस्थितं सुरेन्द्रमपि दृष्ट्वा लज्जां नानुभवति तथैव नीचः प्राणी निन्दितं कर्म कुर्वन्नपि निन्दाभयात् न लज्जते।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–कृमिकुलचितम्=कृमीणां कुलैः चितम् ; तृतीया तत्पुरुष समास।

लालाक्लिन्नम्=लालया क्लिन्नम् ; तृतीया तत्पुरुष समास।

जुगुप्सितम्=√गुप्+सन्+क्त प्रत्यय।

निरामिषम्=निर्गतम् आमिषं यस्मात् तत्; बहुव्रीहि समास।

नरास्थि=नरस्य अस्थि; षष्ठी तत्पुरुष समास।

निरुपमरसम्=निरुपमः रसः यस्मिन् तत् ; बहुव्रीहि समास।

खादन्=√खाद्+शतृ, पु०, प्रथमा विभक्ति, एकवचन।

पार्श्वस्थम्=पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः, तम् ; उपपद समास।

सुरपतिम्=सुराणां पतिः, तम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

विलोक्य=वि उपसर्ग √लोक्+ल्यप् प्रत्यय।

शङ्कते=√शङ्क्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

परिग्रहफल्गुताम्=परिग्रहस्य फल्गुता, ताम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

गणयति=√गण्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धिविच्छेद–

क्षुद्रो जन्तुः=क्षुद्रः + जन्तुः।

शिरः शार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तःक्षितिधरं
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम्।
अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।। ९।।

अन्वयः–इयम् गङ्गा स्वर्गात् शार्वं शिरः पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरम् (गता) उत्तुङ्गात् महीध्रात् अवनिम्, अवनेः अपि च जलधिम्। अधोऽधः स्तोकम् पदम् उपगता अथवा विवेकभ्रष्टानां विनिपातः शतमुखः भवति।

प्रसंग–अविवेकी लोगों का अधः पतन किस प्रकार होता है–इसका वर्णन किया गया है इस श्लोक में।

शब्दार्थ–[इयम्] यह। [गङ्गा] गंगा नदी। [स्वर्गात्] स्वर्गलोक से। [शार्वम्] शिवजी के। [शिरः] सिर पर। [पशुपतिशिरस्तः] शिवजी के सिर से। [क्षितिधरम्] पर्वतराज हिमालय पर। [उत्तुङ्गात् महीध्रात्] ऊँचे पर्वत (हिमालय) से। [अवनिम्] पृथ्वी पर। [अवनेः] पृथ्वी से। [जलधिम्] समुद्र को। [अधः अधः] नीचे नीचे। [स्तोकम्

पदम्] छोटे पद को। [उपगता] प्राप्त हुई। [अथवा] इस प्रकार। [विवेकभ्रष्टानाम्] विवेक शून्य लोगों का। [शतमुख:] सैकड़ों प्रकार से। [विनिपात:] पतन। [भवति] होता है।

सरलार्थ–यह गंगा नदी स्वर्ग लोक से शिवजी के मस्तक पर गिरी, वहां से ऊंचे पर्वत हिमालय पर गिरी, वहां से पृथ्वी पर और पृथ्वी से भी वह समुद्र में जा गिरी। इस प्रकार इसका क्रमश: अध: पतन होता गया। ठीक ही है विवेक शून्य लोगों का पतन सैकड़ों प्रकार से होता है।

व्याख्या–सुरसरिता गंगा अपने तीव्र प्रवाह के साथ स्वर्ग लोक में बहती थी। अपनी तेज गति के गर्व से यह विवेक शून्य हो गई और धीरे-धीरे उसका अध: पतन होना आरम्भ हो गया। वह सर्वोच्च स्थान स्वर्ग से निम्नतम स्थान पाताल लोक में पहुंच गई क्योंकि विवेक शून्य लोग इसी प्रकार सैकड़ों प्रकार से पतन को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार आचार्य भर्तृहरि मनुष्य मात्र को यह उपदेश देना चाहते हैं कि मनुष्य को विवेक से काम लेना चाहिए तथा अपनी उन्नति पर कभी गर्व नहीं करना चाहिए। विवेकशून्यता तथा दर्प मनुष्य की अवनति का मूल कारण होता है।

प्रस्तुत श्लोक में **शिखरिणी** छन्द तथा **अर्थान्तरन्यास** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–स्ववेगस्य गर्विणी गङ्गा स्वर्गात् शिवमस्तकोपरि अपतत्, तत: सा हिमालयपर्वतोपरि, तदनन्तरं सा पृथिवीम्, ततश्च समुद्रं गता सा। एवं सा नीचात् नीचं पदं प्राप्ता। एवमेव विवेकशून्यानां जनानाम् अध: पतनं बहुविधं भवति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

पशुपतिशिरस्त:=पशूनां पति:, तस्य शिर:, तस्मात् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

क्षितिधरम्=क्षिते: धर:, तम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

महीध्रात्=महीं धरतीति; तस्मात्; तत्पुरुष समास।

उपगता= उप उपसर्ग √गम् + क्त प्रत्यय।

विवेकभ्रष्टानाम्=विवेकात् भ्रष्टा:, तेषाम् ; पञ्चमी तत्पुरुष समास अथवा भ्रष्ट: विवेक: येषां ते, तेषाम् ; बहुव्रीहि समास।

शतमुख:=शतं मुखानि यस्य स: ; बहुव्रीहि समास।

भवति=√भू, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धिविच्छेद–

महीध्रादुत्तुङ्गादवनिम्=महीध्रात्+उत्तुङ्गात्+अवनिम्।

अवनेश्चापि=अवने:+च+अपि।

अधोऽधो=अध:+ अध:।

गङ्गेयम्=गङ्गा + इयम्।

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक्छत्रेण सूर्यातपो
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ।
व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्।। 10।।

अन्वयः-हुतभुक् जलेन वारयितुं शक्यः, सूर्यातपः छत्रेण, समदः नागेन्द्रः निशितांकुशेन, गोगर्दभौ दण्डेन, व्याधिः भेषजसंग्रहैः, विषं च विविधैः मन्त्रप्रयोगैः, (एवम्) सर्वस्य शास्त्रविहितम् औषधम् अस्ति (किन्तु) मूर्खस्य औषधं नास्ति।

प्रसंग-'मूर्ख की मूर्खता को दूर करने का कोई उपाय नहीं हैं'-इस विषय का वर्णन कर रहे हैं कवि इस श्लोक में-

शब्दार्थ-[हुतभुक्] अग्नि। [जलेन] पानी से। [वारयितुम् शक्यः] बुझाई (शान्त की) जा सकती है। [सूर्यातपः] सूर्य की धूप। [छत्रेण] छतरी से। [समदः] मदमस्त। [नागेन्द्रः] हाथी। [निशिताङ्कुशेन] तीक्ष्ण अंकुश से। [गोगर्दभौ] बैल और गधे को। [दण्डेन] डंडे से। [व्याधिः] रोग। [भेषजसंग्रहैः] औषधियों के प्रयोग से। [च] और। [विषम्] विष को। [विविधैः] विभिन्न प्रकार के। [मन्त्रप्रयोगैः] मन्त्रों के प्रयोग से। [सर्वस्य] सब की। [शास्त्रविहितम्] शास्त्रों में वर्णित। [औषधम्] औषधि, दवाई। [अस्ति] है। [मूर्खस्य] मूर्ख की। [औषधम्] औषधि। [न अस्ति] नहीं है।

सरलार्थ-अग्नि को पानी से रोका (बुझाया) जा सकता है, सूर्य की धूप को छतरी से रोका जा सकता है, मदमस्त हाथी को तीक्ष्ण अंकुश (बन्धन) से वश में किया जा सकता है, बैल और गधे को डण्डे से वश में किया जा सकता है, रोग को औषधि के सेवन से दूर किया जा सकता है तथा विष को विभिन्न मन्त्रों के प्रयोग (उच्चारण) से दूर किया जा सकता है। इस प्रकार शास्त्रों में सभी की कोई न कोई औषधि (इलाज) वर्णित है किन्तु मूर्ख की कोई औषधि नहीं है।

व्याख्या-बहुत सुन्दर भाव अभिव्यक्त किया है यहाँ आचार्य भर्तृहरि ने। उनके अनुसार सभी परेशानियों का कुछ न कुछ इलाज (समाधान) शास्त्रों में वर्णित है किन्तु मूर्ख को समझाने का या उसकी मूर्खता को दूर करने का कोई उपाय नहीं है। अनेक उदाहरणों द्वारा अपनी बात को सिद्ध करते हैं आचार्य भर्तृहरि - जैसे अग्नि को पानी से बुझाया जा सकता है, छतरी के प्रयोग से सूर्य की गर्मी को कम किया जा सकता है, तीक्ष्ण अंकुश से विशालकाय तथा मदमस्त हाथी को भी वश में किया जा सकता है, बैल तथा गधे को डण्डे से मारकर वंश में कर सकते हैं, औषधि के सेवन से रोग से छुटकारा मिल सकता है तथा मंत्र-तन्त्रों के जाप से विष को दूर किया जा सकता है। इस प्रकार शास्त्रों में हर समस्या का समाधान तथा हर कष्ट का निवारण वर्णित है किन्तु मूर्ख के लिए कोई दवा वर्णित नहीं है अर्थात् मूर्ख को समझाना असम्भव है क्योंकि वह किसी की कोई बात सुनने या समझने को तत्पर ही नहीं होता। मूर्खता को एक असाध्य रोग के रूप में वर्णित किया गया है यहां।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **अर्थान्तरन्यास** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–अग्नि:, सूर्यातप:, गजेन्द्र:, गोगर्दभौ, व्याधि:, विषं च क्रमश: जलेन, छत्रेण, तीक्ष्णांकुशेन, दण्डेन, औषधै:, मन्त्रप्रयोगै: च शमयितुं शक्यन्ते किन्तु मूर्खस्य मूर्खताया: निवारणं केनापि उपायेन कर्तुं नैव शक्यते।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

वारयितुम्=√वृ+णिच्+तुमुन् प्रत्यय।

शक्य:=√शक्+यत् प्रत्यय, पु॰, प्रथमा विभक्ति, एकवचन।

सूर्यातप:=सूर्यस्य आतप: ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

समद:=मदेन सहित:, अव्ययीभाव समास।

नागेन्द्र:=नागेषु इन्द्र: ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

निशिताङ्कुशेन=निशित: अङ्कुश:,तेन; कर्मधारय समास।

गोगर्दभौ=गौ: च गर्दभ: च ; द्वन्द्व समास।

भेषजसंग्रहै:=भेषजानां संग्रहा:, तै: ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

मन्त्रप्रयोगै:=मन्त्राणां प्रयोगा:, तै: ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

शास्त्रविहितम्=शास्त्रे विहितम् ; सप्तमी तत्पुरुष समास, अथवा शास्त्रेण विहितम् ; तृतीया तत्पुरुष समास।

विहितम्=वि उपसर्ग √धा+ क्त प्रत्यय।

अस्ति=√अस्, लट् लकार, प्रथमपुरुष, एकवचन।

सन्धिविच्छेद–

शक्यो वारयितुम्=शक्य: + वारयितुम्।

नागेद्रो निशिताङ्कुशेन=नागेन्द्र: + निशिताङ्कुशेन।

समदो दण्डेन=समद: + दण्डेन।

व्याधिर्भेषजसङ्ग्रहैश्च=व्याधि: + भेषजसङ्ग्रहै: + च।

विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषम्=विविधै:+मन्त्रप्रयोगै:+विषम्।

सर्वस्यौषधम्= सर्वस्य + औषधम्।

नास्त्यौषधम्=न+अस्ति+औषधम्।

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्।। 11।।

अन्वय:–साहित्यसंगीतकलाविहीन: (जन:) साक्षात्पुच्छविषाणहीन: पशु: तृणं न खादन् अपि जीवमान: तत् पशूनाम् परमम् भागधेयम्।

प्रसंग–साहित्य, संगीत, विभिन्न कलाओं आदि के ज्ञान से रहित मनुष्य साक्षात् पशु होता है–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

शब्दार्थ–[साहित्य संगीत कलाविहीन:] साहित्य, संगीत तथा कला आदि से रहित

मनुष्य। [पुच्छविषाणहीन:] पूँछ और सींग से रहित। [साक्षात् पशु:] साक्षात् पशु है। [तृणम्] घास को। [न] नहीं। [खादन्] खाता हुआ। [अपि] भी। [जीवमान:] जीवन धारण कर रहा है। [तत्] वह। [पशूनाम्] पशुओं का। [परमम्] अत्यधिक। [सौभाग्यम्] सौभाग्य है।

सरलार्थ–साहित्य, संगीत तथा विभिन्न कलाओं के ज्ञान से शून्य मनुष्य पूंछ और सींग से रहित साक्षात् पशु ही है। वह घास न खाता हुआ भी जीवन धारण करता है – यह पशुओं का महान् सौभाग्य है।

व्याख्या–मनुष्य और पशुओं में अन्तर एक 'बुद्धि' का है। जो मनुष्य बुद्धि को धारण करता हुआ भी साहित्य, संगीत तथा विभिन्न कलाओं का ज्ञान प्राप्त नहीं करता वास्तव में वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी ही नहीं है। भोजन करना, सोना, भय अनुभव करना, मनोरंजन करना आदि सभी क्रियाओं में मनुष्य पशु के तुल्य है। बुद्धियुक्त होने से ही वह पशुओं से विशिष्ट होता है, किन्तु बुद्धियुक्त होते हुए भी जो शास्त्रों का अध्ययन, विभिन्न कलाओं का ज्ञान आदि प्राप्त नहीं करता तो उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं। वह पूँछ और सींग से रहित साक्षात् पशु है। पशु घास खाता है, मनुष्य घास नहीं खाता, अन्न खाता है। यह पशुओं के लिए सौभाग्य का विषय है क्योंकि यदि वह घास भी खाने लगे तो पशुओं का भोजन भी नष्ट हो जाएगा, उनके लिए खाने को कुछ बचेगा ही नहीं। इस प्रकार मनुष्य को बुद्धि का सदुपयोग करना चाहिए तथा साहित्य का अध्ययन, संगीत शिक्षा का अभ्यास तथा कलाओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। तभी उसका मानव जन्म सार्थक हो सकता है। सच्चे अर्थों में मनुष्य पद का अधिकारी वही है जो बुद्धि को प्राप्त करके साहित्य, संगीत तथा कलाओं आदि का ज्ञान प्राप्त करता है, अन्यथा वह पशु ही है।

प्रस्तुत श्लोक में उपजाति छन्द तथा रूपक अलंकार है।

सस्कृत-भावार्थ:–साहित्य-संगीत कलाविहीन: मनुष्य: पशुतुल्य: भवति। स: तृणं न खादति-इदं पशूनां परमं सौभाग्यं वर्तते। एवं साहित्यसंगीतकलादिज्ञानेनैव मनुष्य: मनुष्य: भवति अन्यथा स मानवपदाधिकारी एव न।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

साहित्यसंगीतकलाविहीन:=साहित्येन संगीतेन कलया च विहीन:; तत्पुरुष समास।

पुच्छविषाणहीन:=पुच्छेन विषाणेन च हीन: ; तत्पुरुष समास।

खादन्=√खाद्+शतृ प्रत्यय, पु॰, प्रथमा विभक्ति, एकवचन।

जीवमान:=√जीव्+ [illegible] प्रत्यय, पु॰, प्रथमा विभक्ति, एकवचन।

सन्धिविच्छेद–खादन्नपि=खादन्+अपि।

जीवमानस्तद्भागधेयम् =जीवमान:+तत्+भागधेयम्।

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्म:।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।। 12।।

अन्वय:–येषाम् विद्या न, तप: न, दानं न, ज्ञानं न, शीलं न, गुण: न, धर्म: न, ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता: मनुष्यरूपेण मृगा: चरन्ति।

प्रसंग–मनुष्य और पशुओं में अन्तर स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि-

शब्दार्थ–[येषाम्] जिन मनुष्यों में। [विद्या न] विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान नहीं है। [तप: न] तपस्या नहीं है। [दानम् न] जो दान नहीं देते। [ज्ञानम् न] ज्ञान नहीं है। [शीलम् न] सदाचरण नहीं है। [गुण: न] अच्छे गुण नहीं हैं। [धर्म: न] जो धर्म का आचरण नहीं करते। [ते] ऐसे मनुष्य। [मर्त्यलोके] मनुष्य लोक में। [भुवि] पृथ्वी पर। [भार-भूता:] भार स्वरूप हैं। [मनुष्यरूपेण] मनुष्य के रूप में। [मृगा:] पशु। [चरन्ति] विचरण करते हैं।

सरलार्थ–जो मानव की देह को धारण करके भी (बुद्धि युक्त होते हुए भी) विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन नहीं करते, तपस्या आदि से ईश्वर की अर्चना नहीं करते, दान देकर परोपकार नहीं करते, ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते, जीवन में सदाचार का पालन नहीं करते, दया दाक्षिण्यादि गुणों से रहित हैं, धर्म का आचरण भी नहीं करते, ऐसे मनुष्य वास्तव में मनुष्य कहलाने के अधिकारी ही नहीं हैं। वे तो इस मानवलोक में पृथ्वी पर भारस्वरूप ही हैं। वे मनुष्य के रूप में पशु ही हैं।

व्याख्या–इस श्लोक में आचार्य भर्तृहरि मानव को सच्चे अर्थों में मनुष्य कहलाने का अधिकारी बनने के लिए गुणों को प्राप्त करना अनिवार्य बताते हैं। उनके अनुसार ईश्वर की मनुष्य के लिए बहुमूल्य देन बुद्धि है। बुद्धि को प्राप्त करके मनुष्य को विद्या, तप, दान प्राप्ति, गुणग्रहण, सदाचरण आदि का पालन करना चाहिए। इनके बिना मनुष्य का जीवन निरर्थक है।

इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में आचार्य भर्तृहरि मानव जीवन को सार्थक बनाने के लिए विद्याध्ययन, गुणोपार्जन, धर्म का आचरण, परोपकार आदि गुणों का पालन अनिवार्य बताते हैं। इनके बिना मनुष्य पशु ही है तथा इनसे ही मानव जीवन की सार्थकता है।

प्रस्तुत श्लोक में **उपजाति** छन्द तथा **रूपक** अलंकार हैं।

संस्कृतभावार्थ:–येषां मनुष्याणां विद्या, तप:, दानं, ज्ञानं, शीलं, गुणा:, धर्माचरणं च न भवन्ति ते अस्मिन् लोके मनुष्यरूपेण पशव: एव विचरन्ति। ते मानवपदस्याधिकारिण: एव न इति अभिप्राय: कवे:।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

मर्त्यलोके=मर्त्यानां लोके ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

भारभूता:=भार: इव भूता: ; कर्मधारय समास।

मनुष्यरूपेण=मनुष्यस्य रूपेण ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

चरन्ति=√चर्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

सन्धि विच्छेद–

तपो न=तप:+न।

मृगाश्चरन्ति=मृगा:+चरन्ति।

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि।। 13।।

अन्वयः-वनचरैः सह पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तम् वरम् (किन्तु) मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेषु अपि न (वरम्) अस्ति।

प्रसंग-'मूर्ख लोगों के साथ सम्पर्क कभी नहीं करना चाहिए'-इस भाव को प्रस्तुत करते हुए कवि कहते हैं-

शब्दार्थ-[वनचरैः] वन में रहने वालों के। [सह] साथ। [पर्वतदुर्गेपु] पर्वतों के दुर्गम स्थानों पर। [भ्रान्तम्] भ्रमण करना। [वरम्] अच्छा है। [सुरेन्द्रभवनेषु] इन्द्र के भवनों में। [अपि] भी। [मूर्खजनसम्पर्कः] मूर्खों के साथ सम्बन्ध। [न वरम्] अच्छा नहीं।

सरलार्थ-वनवासियों के साथ पहाड़ों के दुर्गम स्थानों पर भ्रमण करना या भटकना भी अच्छा है किन्तु इन्द्र के महलों में भी मूर्ख लोगों का साथ अच्छा नहीं।

व्याख्या-कवि इस श्लोक के माध्यम से मनुष्यमात्र को शिक्षा देते हैं कि मूर्ख लोगों की संगति से बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए मूर्खों की संगति चाहे कितनी भी सुख-सुविधाएं देने वाली क्यों न हो फिर भी वह त्याज्य है तथा वनवासियों के साथ पर्वत या दुर्गम स्थलों पर कष्टपूर्वक भी चाहे भटकना पड़े वह निस्संदेह अच्छा है क्योंकि हम मूर्खों के दुर्गुणों से बचे रहेंगे। इस प्रकार मूर्ख व्यक्ति के सम्पर्क से कष्टों से पूर्ण वनवासियों का संग भी श्रेयस्कर बताया गया है यहां।

अनुष्टुप् छन्द तथा **काव्यलिङ्ग** अलंकार है यहां।

संस्कृत-भावार्थः-पर्वतेषु दुर्गमस्थलेषु चापि वनचरैः सह वासः श्रेष्ठः भवति किन्तु मूर्खजनैः सह इन्द्रलोकेषु अपि वासः नैव स्वीकरणीयः।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी-

वनचरैः=वने चरन्तीति तैः ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

पर्वतदुर्गेषु=पर्वतानां दुर्गेषु ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

सुरेन्द्रभवनेषु=सुरेन्द्रस्य भवनेषु ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

मूर्खजनसम्पर्कः=मूर्खाः एव जनाः ; तैः सम्पर्कः ; तृतीया तत्पुरुष समास।

यहां 'सह' के कारण 'वनचरैः' में तृतीया विभक्ति लगी है।

सन्धि-विच्छेद-

सुरेन्द्रभवनेष्वपि =सुरेन्द्रभवनेषु+अपि।

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमाः
विख्याताः कवयो वसन्ति विषये यस्य प्रभोर्निर्धनाः।

तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य हि कवयस्त्वर्थं विनाऽपीश्वरा:
कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षका हि मणयो यैरर्घतः पातिताः।। 14।।

अन्वयः–यस्य प्रभोः विषये शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमाः विख्याताः कवयः निर्धनाः वसन्ति तत् वसुधाधिपस्य जाड्यम् कवयः तु अर्थं विना अपि ईश्वराः यैः मणयः अर्घतः पातिताः ते कुपरीक्षकाः कुत्स्याः स्युः।

प्रसंग–'जो राजा अपने राज्य में रहने वाले कवियों का सम्मान नहीं करता वह अपनी मूर्खता को प्रकट करता है'–इसका वर्णन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[यस्य प्रभोः] जिस राजा के। [विषये] राज्य में। [शास्त्रोपस्कृत-शब्दसुन्दरगिरः] शास्त्रों से परिष्कृत सुन्दर वाणी बोलने वाले। [शिष्यप्रदेयागमाः] शिष्यों को देने योग्य शास्त्र वाले। [विख्याताः] प्रसिद्ध। [कवयः] कवि लोग। [निर्धनाः] धनहीन। [वसन्ति] रहते हैं। [तत्] वह। [वसुधाधिपस्य] उस राजा की। [जाड्यम्] मूर्खता है। [कवयः तु] विद्वान् लोग तो। [अर्थम् विना] धन के बिना। [अपि] भी। [ईश्वराः] समर्थ हैं। [कुपरीक्षकाः] बुरे पारखी लोग। [कुत्स्याः] निन्दा के योग्य। [स्युः] हैं। [यैः] जिन्होंने। [मणयः] रत्नों को। [अर्घतः] मूल्य से। [पातिताः] गिरा दिया।

सरलार्थ–यह उस राजा की मूर्खता है जिसके राज्य में व्याकरणादि शास्त्रों से अलंकृत सुन्दर वचन बोलने वाले, शिष्यों को देने योग्य शास्त्रों वाले सुप्रसिद्ध कवि धनहीन रहते हैं। ऐसे विद्वान् कवि लोग तो धन के बिना भी महान् होते हैं। कुत्सित तो वे रत्नों के परीक्षक हैं जो रत्नों को न पहचानकर उनका मूल्य बहुत कम आंकते हैं (उन्हें उनके मूल्य से गिरा देते हैं)।

व्याख्या–विद्वानों का सम्मान करना राजा का प्रमुख कर्तव्य है। जिस राजा के राज्य में विभिन्न शास्त्रों के ज्ञान से परिष्कृत वाणी बोलने वाले तथा शिष्यों को विभिन्न विद्याओं का उपदेश देने वाले प्रसिद्ध विद्वान् भी धनहीन होकर कष्टयुक्त दशा में रहते हैं तो यह राजा की विवेकशून्यता का ही परिचय देती है क्योंकि विद्वानों के पास तो विद्यारूपी बहुमूल्य धन होता है। यदि बहुमूल्य विद्वानों का वह राजा धन आदि देकर सम्मान नहीं करता तो इसमें उन विद्वानों का नहीं अपितु राजाओं का ही दोष है जिस प्रकार मणि तो बहुमूल्य होती है, यदि रत्नपारखी उसका उचित मूल्यांकन नहीं करता या कम मूल्य आंकता है तो इसमें वह रत्नपारखी ही दोषी है मणि नहीं। इस प्रकार धन आदि देकर विद्वानों के कष्टों को दूर करना तथा उनका सम्मान करना राजा का परम कर्तव्य है।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **काव्यलिंग** अलंकार हैं।

संस्कृत-भावार्थः–यदि रत्नपरीक्षकैः मणयः मूल्यतः पात्यन्ते तर्हि ते परीक्षकाः एव निन्दनीयाः, न तु मणयः, एवमेव यदि राजानः विदुषां कवीनां च धनादिप्रदानेन सम्मानं न कुर्वन्ति तर्हि तेषामेव मूर्खता स्यात् यतो हि विद्वांसः तु धनं विनापि सम्माननीयाः भवन्ति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिर:=शास्त्रै: उपस्कृता: शब्दा: सुन्दरा: गिर: येषां ते; बहुव्रीहि समास।

शिष्यप्रदेयागमा:=शिष्येभ्य: प्रदेया: आगमा: येषां ते; बहुव्रीहि समास।

विख्याता:=विशेषेण आख्याता:; तृतीया तत्पुरुष समास।

वसुधाधिप:=वसुधाया: अधिप: ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

कुपरीक्षका:=कुत्सिता: परीक्षका: ; कर्मधारय समास।

अर्घत:=अर्घ शब्द, तसिल् प्रत्यय।

पातिता:=√पत्+णिच्+क्त प्रत्यय।

निर्धना:=निर्गतं धनं येषां ते ; बहुव्रीहि समास।

वसन्ति=√वस्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

यहां बिना के योग में 'अर्थम्' में द्वितीया विभक्ति लगी है।

सन्धि-विच्छेद–

कवयो वसन्ति=कवय:+वसन्ति।

प्रभोर्निधना:=प्रभो:+निर्धना:।

तज्जाड्यम्=तत्+जाड्यम्।

सुधियस्त्वर्थम्=सुधिय:+तु+अर्थम्।

विनापीश्वरा:=विना+अपि+ ईश्वरा:।

कुपरीक्षका हि = कुपरीक्षका:+हि।

मणयो यैरर्घत:=मणय:+यै:+अर्घत:।

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत्सर्वदा
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम्।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं
येषां तान्प्रति मानमुज्झत नृपाः कस्तैः सह स्पर्धते।। 15।।

अन्वय:–यत् हर्तु: गोचरं न याति, सर्वदा किमपि शम् पुष्णाति, हि अर्थिभ्य: अनिशं प्रतिपाद्यमानं परां वृद्धिं प्राप्नोति; कल्पान्तेषु अपि निधनं न प्रयाति, तत् विद्याख्यम् अन्तर्धनं येषां (समीपे वर्तते); तान् प्रति हे नृपा:! मानम् उज्झत, तै: सह क: स्पर्धते।

प्रसंग–'विद्याधन सर्वश्रेष्ठ धन है, अत: विद्वानों के साथ राजा को भी स्पर्धा नहीं करनी चाहिए'–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि–

शब्दार्थ–[यत्] जो। [हर्तु:] चुराने वाले को। [गोचरं न याति] दृष्टिगोचर नहीं

होता। [सर्वदा] हमेशा। [किम् अपि] अवर्णनीय। [शम्] कल्याण को। [पुष्णाति] बढ़ाता है। [अर्थिभ्यः] याचकों को। [अनिशम्] निरन्तर। [प्रतिपाद्यमानम्] देते हुए भी। [परां वृद्धिम्] परम वृद्धि को। [प्राप्नोति] प्राप्त करता है। [कल्पान्तेषु] प्रलयकालों में। [अपि] भी। [निधनम्] विनाश को। [न प्रयाति] प्राप्त नहीं होता। [तत्] वह। [विद्याख्यम्] विद्या नामक। [अन्तधर्नम्] गुप्त धन। [येषाम्] जिनके पास है। [तान् प्रति] उनके प्रति। [नृपाः] हे राजाओ। [मानम्] गर्व को। [उज्झत] छोड़ दो। [तैः सह] उनके साथ। [कः] कौन। [स्पर्धते] स्पर्धा कर सकता है।

सरलार्थ–हे राजाओ! उन विद्वान् लोगों के प्रति अभिमान को छोड़ दो जिनके पास विद्या नामक गुप्त धन है जो चुराने वाले को दृष्टिगोचर नहीं होता, जो सदा अवर्णनीय कल्याण की वृद्धि करता है, जो याचकों को निरन्तर बांटने पर भी परम वृद्धि को प्राप्त करता है तथा जो कल्पों के अन्त में भी नष्ट नहीं होता। ऐसे विद्वान् लोगों के साथ कौन स्पर्धा कर सकता है?

व्याख्या–प्रस्तुत श्लोक में विद्या धन का माहात्म्य अभिव्यक्त किया गया है। विद्वानों का सम्मान करना चाहिए–इसका वर्णन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि विद्या गुप्त धन है जिसे चोर देख नहीं सकता, तो चुराने का प्रश्न ही नहीं होता, यह सदा मनुष्य के लिए सुख प्रदान करता है, औरों को समझाने से विद्या धन में निरन्तर वृद्धि होती है तथा युग-युगान्तरों के पश्चात् भी इसका नाश नहीं होता। इस प्रकार विद्वानों के इस गुप्त विद्याधन की तुलना में राजाओं के धन-ऐश्वर्य का कोई महत्व नहीं है। अतः राजाओं को विद्वानों के प्रति अहंकार नहीं करना चाहिए और न ही उनके साथ स्पर्धा की भावना रखनी चाहिए। विद्वानों के साथ तो कोई स्पर्धा कर ही नहीं सकता। इसके विपरीत उनका तो उचित आदर-सम्मान करना चाहिए। विद्याधन कभी नष्ट न होने वाला धन है, जबकि अन्य धन नश्वर एवं क्षणिक हैं।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **व्यतिरेक** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–हे नृपाः ! यैः नरैः चौरैः अहार्यम्, अक्षयं, कल्याणप्रदं विद्याख्यं धनम् आसादितम् तान् विदुषः प्रति अभिमानं नैव कर्तव्यम्। ईदृशः विद्वांसः सदैव समादरणीयाः।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

हर्तुः=√हृ+तृच् प्रत्यय, पु°, षष्ठी विभक्ति, एकवचन।

याति=√या, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

पुष्णाति=√पुष् लट्, लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

प्रतिपाद्यमानम्=प्रति उपसर्ग √पद्+णिच्+शानच् प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, एकवचन।

प्राप्नोति=प्र उपसर्ग √आप्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

प्रयाति=प्र उपसर्ग, √या, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

विद्याख्यम्=विद्या इति आख्या यस्य तत् ; बहुव्रीहि समास।

अन्तर्धनम्=अन्तर्गतं धनम् इति ; मध्यमपदलोपी समास।

उज्झत=√उज्झ् ; लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन।

स्पर्धते==√स्पर्ध्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

छात्र ध्यान दें–यहां 'प्रति' के योग में 'तान्' में द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त हुई है तथा 'सह' के योग में 'तै:' में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

सन्धि-विच्छेद–

हर्तुर्याति=हर्तु:+याति।

सर्वदाप्यर्थिभ्य:=सर्वदा+अपि+अर्थिभ्य:।

कल्पान्तेष्वपि=कल्पान्तेषु+अपि।

कस्तै:=क:+तै:।

अधिगतपरमार्थान्पण्डितान्माऽवमंस्था-
स्तृणमिव लघु लक्ष्मीर्नैव तान्संरुणद्धि।
अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानां
न भवति बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम्।। 16।।

अन्वय:–(हे नृप!) अधिगतपरमार्थान् पण्डितान् मा अवमंस्था: तृणम् इव लघुलक्ष्मी: तान् नैव संरुणद्धि, बिसतन्तु: अभिनवमदलेखाश्यमगण्डस्थलानां वारणानां वारणं न भवति।

प्रसग:–'तत्त्वज्ञानी पण्डितों को लक्ष्मी अपने वश में नहीं कर सकती'–इस विषय को स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

शब्दार्थ–[अधिगतपरमार्थान्] तत्त्वज्ञान को प्राप्त किए हुए। [पण्डितान्] विद्वानों को। [मा अवमस्था:] अपमानित मत करो। [तृणम् इव] तिनके के समान। [लघु लक्ष्मी:] तुच्छ लक्ष्मी। [तान्] उन विद्वानों को। [नैव संरुणद्धि] रोक नहीं सकती। [बिसन्तन्तु:] कमलनाल का सूत्र। [अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानाम्] नवीन मद की रेखा से श्याम कपोलों वाले। [वारणानाम्] हाथियों का। [वारणम्] बन्धन। [न भवति] नहीं होता।

सरलार्थ–तत्त्वज्ञानी पण्डितों का तिरस्कार मत करो। तिनके के समान तुच्छ लक्ष्मी उन्हें कभी बांध नहीं सकती (अपने वश में नहीं कर सकती)। (जिस प्रकार) कमलनाल का सूत्र नवीन मद की धारा से श्याम गण्डस्थल वाले हाथियों को बांधने का साधन नहीं बन सकता।

व्याख्या–तत्त्वज्ञानी पण्डितों की दृष्टि में लक्ष्मी का कोई मूल्य नहीं। ब्रह्मज्ञानियों के लिए सांसारिक ऐश्वर्य तिनके के समान तुच्छ तथा मूल्यहीन होते हैं। अत: बड़े से बड़े राजा का भी कर्तव्य है कि वह ऐसे परमतत्त्ववेत्ता पण्डितों का सम्मान करे। लक्ष्मी उन्हें अपने वश

में उसी प्रकार नहीं कर सकती जिस प्रकार कमलनाल का कोमल तन्तु मदमस्त हाथी के बन्धन का कारण नहीं बन सकता। अतः ऐसे पण्डितों का कभी अपमान नहीं करना चाहिए तथा उनके सामने धन ऐश्वर्य का अभिमान भी कभी नहीं करना चाहिए।

प्रस्तुत श्लोक में मालिनी छन्द तथा दृष्टान्त अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–हे नृप ! तव लघुलक्ष्मीः तत्त्वज्ञानिनः पण्डितान् वशीकर्तुं नैव शक्नोति यथा मृणालसूत्रं मत्तगजान् रोद्धुं न प्रभवति। अतः विदुषाम् अपमानं नैव कर्तव्यम्। (तेषां सदा सम्मानं कर्तव्यम्)।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

अधिगतपरमार्थान्=अधिगतः परमार्थः यैः ते, तान्; बहुव्रीहि समास।

अवमंस्थाः=अव उपसर्ग, √मन्, लुङ् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

संरुणद्धि=सम् उपसर्ग, √रुध्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

बिसतन्तुः=बिसस्य तन्तुः; षष्ठी तत्पुरुष समास।

अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानाम्=अभिनवाभिः मदलेखाभिः श्यामानि गण्डस्थलानि येषां ते, तेषाम्; बहुव्रीहि समास।

सन्धिविच्छेद–

लघुलक्ष्मीर्नैव=लघुलक्ष्मीः+न+एव।

बिसतन्तुर्वारणम्=बिसतन्तुः+ वारणम्।

अम्भोजिनीवनविहारविलासमेव
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता।
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां
वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः।। 17।।

अन्वयः–विधाता कुपितः सन् हंसस्य अम्भोजिनीवनविहारविलासम् एव नितरां हन्ति, तु असौ अस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां वैदग्ध्यकीर्तिम् अपहर्तुम् न समर्थः।

प्रसंग–'क्रुद्ध होकर राजा विद्वानों से उनकी स्वतंत्रता के सुख को तो छीन सकता है, उनके गुणों को उनसे पृथक् नहीं कर सकता' –इस विषय का प्रतिपादन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

शब्दार्थ–[कुपितः] क्रुद्ध। [विधाता] ब्रह्मा। [हंसस्य] हंस के। [अम्भोजिनीवन-विहारविलासम् एव] कमलिनी के वन में विहार करने के सुख को। [नितराम्] पूर्णतया। [हन्ति] नष्ट कर सकता है। [तु] किन्तु। [असौ] यह। [अस्य] उसके (हंस के)। [दुग्धजलभेदविधौ] दूध और जल को अलग करने की। [वैदग्ध्यकीर्तिम्] निपुणता के यश को। [अपहर्तुम्] नष्ट करने के लिए। [न समर्थः] समर्थ नहीं होता।

सरलार्थ–ब्रह्मा क्रुद्ध होकर हंस के कमलिनी के वन में आनन्दपूर्वक विचरण करने

के सुख को तो नष्ट कर सकता है, किन्तु उसके अन्तर्हृदय में विद्यमान दूध और जल को पृथक् करने के गुण को वह कदापि नष्ट नहीं कर सकता।

व्याख्या–हंस नीरक्षीरविवेकी कहलाता है। ब्रह्मा चाहे जितना भी क्रुद्ध हो जाए वह कभी हंस से उसके स्वाभाविक गुण को अलग कर ही नहीं सकता, इसी प्रकार राजा का चाहे सम्पूर्ण राज्य पर पूरा अधिकार होता है, वह क्रुद्ध होकर विद्वानों को स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करने के आनन्द से तो वंचित कर सकता है किन्तु उनके गुणों का, उनकी विद्वत्ता का अपहरण करने में वह कदापि समर्थ नहीं हो सकता। अपनी विद्वत्ता तथा अन्य गुणों से ही विद्वान् का यश सर्वत्र व्याप्त होता है जिसका विनाश ब्रह्मा भी नहीं कर सकता।

प्रस्तुत श्लोक में **वसन्ततिलका** छन्द तथा **अप्रस्तुतप्रशंसा** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–ब्रह्मा कुपितः सन् हंसस्य कमलिनीवनविहारविलासं नाशयितुं तु प्रभवति किन्तु तस्य नीरक्षीरविवेकिनीं जगत्प्रसिद्धां कीर्तिम् अपहर्तुं सः न शक्नोति ; एवमेव कुपितः राजा विदुषः स्वराज्यात् बहिः निष्कासयितुं तु समर्थः किन्तु तेषां वैदग्ध्यकीर्तिं नाशयितुं स न कदापि समर्थः।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

अम्भोजिनीवनविहारविलासम्=अम्भोजिनीनां वने विहारस्य विलासः, तम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

हन्ति=√हन्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

कुपितः=√कुप्+क्त प्रत्यय।

विधाता=वि उपसर्ग √धा+तृच् प्रत्यय, पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन।

दुग्धजलभेदविधौ=दुग्धं च जलं च, तयो भेदः ; तस्य विधिः, तस्मिन् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

वैदग्ध्यकीर्तिम्=वैदग्ध्यस्य कीर्तिः ताम्, षष्ठी तत्पुरुष समास।

सन्धि-विच्छेद–कुपितो विधाता=कुपितः+विधाता।

त्वस्य=तु+अस्य।

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्।। 18।।

अन्वयः–केयूराणि पुरुषम् न भूषयन्ति, चन्द्रोज्ज्वलाः हाराः न, स्नानम् न, विलेपनम् न, कुसुमम् न, अलंकृताः मूर्धजाः न। एका वाणी पुरुषम् समलङ्करोति या संस्कृता धार्यते। भूषणानि खलु क्षीयन्ते। वाग्भूषणं सततम् (वास्तविक) भूषणम् (अस्ति)।

प्रसंग–वाणी का आभूषण ही मनुष्य का सच्चा आभूषण है–इस विषय को प्रस्तुत करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[केयूराणि] बाजूबन्द। [पुरुषम्] मनुष्य को। [न भूषयन्ति] अलंकृत नहीं करते। [चन्द्रोज्ज्वला:] चन्द्रमा के समान चमकने वाले। [हारा:] हार। [न] नहीं। [स्नानम् न] स्नान नहीं। [विलेपनं न] सुगन्धित अङ्गराग भी नहीं। [कुसुमं न] पुष्पमाला भी नहीं। [अलंकृता: मूर्धजा: न] सजे संवारे बाल भी नहीं। [एका] एकमात्र। [वाणी] वाणी। [पुरुषम्] मनुष्य को। [समलंकरोति] अच्छी प्रकार सुशोभित करती हैं। [या] जो। [संस्कृता] (व्याकरणादि शास्त्र से) परिष्कृत। [धार्यते] धारण की जाती है। [भूषणानि] सब आभूषण। [खलु] तो, निश्चयपूर्वक। [क्षीयन्ते] नष्ट हो जाते हैं। [वाग्भूषणम्] वाणी रूपी आभूषण। [सततम्] सदा रहने वाला। [भूषणम्] आभूषण है।

सरलार्थ–मनुष्य को न तो बाजूबन्द (जैसे आभूषण), न चन्द्रमा के समान चमकते हुए हार, न स्नान, न चंदन आदि का लेप, न पुष्प या पुष्पमाला और न ही संवारे हुए बाल सुशोभित करते हैं। (व्याकरणादि शास्त्र से) परिष्कृत एकमात्र वाणी ही मनुष्य को सुशोभित करती है। अन्य सारे आभूषण निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं किन्तु वाणी रूपी आभूषण सदा साथ रहता है जो कभी नष्ट नहीं होता।

व्याख्या–सुसंस्कृत वाणी का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि विभिन्न बहुमूल्य आभूषण, चन्द्रमा जैसे उज्ज्वल हार, पवित्रता प्रदान करने वाला स्नान, अङ्गराग, पुष्प या सुन्दर रूप से संवारे हुए केश-इनमें से कोई भी मनुष्य की शोभा का कारण नहीं बन सकता। मनुष्य की सच्ची शोभा का कारण अच्छी प्रकार से परिष्कृत वाणी है। अच्छी प्रकार से प्रयुक्त वाणी ही विद्वानों की सभा में उसके सम्मान का कारण बनती है। अन्य सभी आभूषण कभी न कभी नष्ट हो जाते हैं किन्तु सुसंस्कृत वाणी (रूपी आभूषण) सदा उसके साथ रहती है जो उसे सम्मानित कराती रहती है। अत: वाणी के प्रयोग में मनुष्य को बहुत सावधान रहना चाहिए तथा व्याकरणादि शास्त्र से परिशुद्ध सुन्दर वाणी का प्रयोग ही करना चाहिए।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **व्यतिरेक** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–पुरुषम् अङ्गदादीनि भूषणानि, स्नानं, विलेपनं, पुष्पं, केशसज्जा च तथा न भूषयन्ति यथा व्याकरणादिपरिष्कृता वाणी तम् आभूषयति। आभूषणानि च कालक्रमेण नश्यन्ति किन्तु वाग्भूषणं तु अविनाशि भवति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

भूषयन्ति=√भूष्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

चन्द्रोज्ज्वला:=चन्द्र: इव उज्ज्वला: ; कर्मधारय समास।

विलेपनम्=वि उपसर्ग √लिप्+ल्युट् प्रत्यय।

समलंकरोति=सम् और अलम् उपसर्ग √कृ, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

वाग्भूषणम्=वाक् एव भूषणम् ; कर्मधारय समास।

सन्धि विच्छेद–

नालङ्कृता:=न+अलङ्कृता:।

वाण्येका=वाणी+एका।

वाग्भूषणम्=वाक्+भूषणम्।

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यश:सुखकरी विद्या गुरूणां गुरु:।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं
विद्या राजसु पूज्यते न तु धनं विद्याविहीन: पशु:।। 19।।

अन्वय:–विद्या नाम नरस्य अधिकं रूपम् प्रच्छन्नगुप्तम् धनम् (अस्ति)। विद्या भोगकरी यश: सुखकरी, विद्या गुरूणाम् गुरु: (अस्ति)। विदेशगमने विद्या बन्धुजन:, विद्या परा देवता, विद्या राजसु पूज्यते, न तु धनम्, विद्याविहीन: (पुरुष:) पशु: (अस्ति)।

प्रसंग–प्रस्तुत श्लोक में विद्या की महिमा का प्रतिपादन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

शब्दार्थ–[विद्या नाम] विद्या ही। [नरस्य] मनुष्य की। [अधिकं रूपं] अत्यधिक सुन्दरता है। [प्रच्छन्नगुप्तम्] अत्यंत गुप्त। [धनम्] धन। [विद्या भोगकरी] विद्या भोग विलास देने वाली है। [यश: सुखकरी] यश और सुख प्रदान करने वाली है। [विद्या गुरूणां गुरु:] विद्या पूज्यों की पूज्या है। [विदेशगमने] विदेश में। [विद्या] विद्या। [बन्धुजन:] मित्र बनती है। [विद्या परा देवता] विद्या सर्वश्रेष्ठ देवता है। [विद्या राजसु पूज्यते] राजाओं में विद्या ही पूजी जाती है। [न हि धनम्] धन नहीं पूजा जाता। [विद्याविहीन:] विद्या से रहित मनुष्य। [पशु:] पशु होता है।

सरलार्थ–विद्या मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य है, यह अत्यंत गुप्त (सुरक्षित) धन है। विद्या सांसारिक सुख सुविधाएं, यश तथा सुख प्रदान करने वाली है, विद्या पूज्यों के लिए भी पूज्य है, विदेश में विद्या ही मित्र बनती है, विद्या सर्वश्रेष्ठ देवता है, राजाओं में विद्या ही पूजी जाती है धन नहीं। अत: विद्या से रहित मनुष्य पशु ही है।

व्याख्या–विद्या सबसे अधिक महत्वपूर्ण है–इस विषय को स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि विद्या ही मनुष्य की सच्ची सुन्दरता है। विद्या से संपन्न व्यक्ति ही सुन्दर माना जाता है। यह ऐसा खजाना हे जिसे कोई देख ही नहीं सकता। विद्या सांसारिक सुख-साधनों को प्राप्त करने का साधन है। यही यश तथा सुख प्रदान कराने वाली है। यह सर्वाधिक पूज्य है। विदेश में विद्या ही सच्चा मित्र है क्योंकि वहां विद्या ही सहायता करती है। विद्या सबसे बड़ा देवता है। राजाओं में भी विद्या (ज्ञान) की ही पूजा होती है अर्थात् विद्वान् राजा ही सम्मान प्राप्त करता है, धन से राजा सम्मान का पात्र नहीं होता। इसलिए विद्याविहीन मनुष्य मनुष्य कहलाने का अधिकारी ही नहीं है। बुद्धि जैसी अमूल्य देन को प्राप्त करके भी यदि मनुष्य विद्यार्जन नहीं करता तो वह साक्षात् पशु ही है। इस प्रकार विद्या सबसे अधिक मूल्यवान् वस्तु है, विद्या के बराबर कोई धन है ही नहीं।

प्रस्तुत श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द तथा रूपक अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–विद्या नरस्य श्रेष्ठं रूपम्, गुप्तं धनम्, विद्या भोग्यपदार्थसम्पादिका, यशस्सुखप्रदायिनी चास्ति। इयं सर्वाधिक-पूज्या वर्तते। प्रवासे इयं बन्धुरिव हितकारिका। इयमेव परमा देवता। विद्यैव राजसु सम्मानं दापयति। धनं राज्ञां सम्मानस्य कारणं न भवति। विद्याविरहितः मनुष्यः साक्षात् पशुः भवति।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

प्रच्छन्नगुप्तम्=प्रच्छन्नं च तत् गुप्तं च ; कर्मधारय समास।

भोगकरी=भोगं करोति इति ; उपपद समास।

यशः सुखकरी=यशः च सुखं च इति यशः सुखे ; ते करोति इति ; उपपद समास।

बन्धुजनः=बन्धुः एव जनः ; कर्मधारय समास।

पूज्यते=√पूज् कर्मणि यक्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

विद्याविहीनः=विद्यया विहीनः ; तृतीया तत्पुरुष समास।

क्षान्तिश्चेत् कवचेन किं किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद्देहिनां
ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद्दिव्यौषधैः किं फलम्।
किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः किमु धनैर्विद्यानवद्या यदि
व्रीडा चेत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम्।। 20।।

अन्वयः–देहिनाम् क्षान्तिः चेत् (अस्ति) कवचेन किम् फलम्, क्रोधः चेत् अस्ति अरिभिः किम्, ज्ञातिः चेत् अनलेन किम्, यदि सुहृत् दिव्यौषधैः किम्, यदि दुर्जनाः सर्पैः किम्, यदि अनवद्या विद्या धनैः किम्, व्रीडा चेत् भूषणैः किम्, यदि सुकविता अस्ति तर्हि राज्येन किम्।

प्रसंग–अनेक उदाहरण देकर कवि यहां यह सिद्ध करना चाहते हैं कि विद्या ही सर्वश्रेष्ठ धन है। यदि मनुष्य के पास सुन्दर विद्या रूपी सर्वोत्तम धन है तो उसे अन्य नश्वर धनों की कोई आवश्यकता नहीं है।

शब्दार्थ–[देहिनाम्] मनुष्यों के (पास)। [क्षान्तिः] क्षमा। [चेत्] यदि है तो। [कवचेन किम् फलम्] कवच से क्या प्रयोजन? [क्रोधः] क्रोध। [चेत् अस्ति] यदि है (तो)। [अरिभिः किम्] शत्रुओं से क्या? [ज्ञातिः] बन्धु-बान्धव, सगे सम्बन्धी। [चेत्] यदि हैं तो। [अनलेन किम्] अग्नि से क्या? [यदि सुहृत्] यदि अच्छा मित्र (है तो)। [दिव्यौषधैः] उत्तम औषधियों से। [किम् फलम्] क्या प्रयोजन? [यदि दुर्जनाः] यदि दुष्ट लोग हैं। [सर्पैः किम्] तो सर्पों से क्या (भय)? [यदि] यदि। [अनवद्या विद्या] निर्दोष विद्या है। [धनैः किम्] तो धन से क्या प्रयोजन? [व्रीडा] लज्जा। [चेत्] यदि है। [भूषणैः किम्] तो आभूषणों से क्या प्रयोजन? [यदि सुकविता अस्ति] यदि सुन्दर कवित्व है। [राज्येन किम्] तो राज्य से क्या प्रयोजन?

सरलार्थ–यदि मनुष्यों में क्षमा (सहनशीलता) आदि गुण हैं तो उसे कवच से क्या प्रयोजन? यदि क्रोध है तो शत्रुओं की क्या कमी? यदि सगे सम्बन्धी हैं तो अग्नि का क्या प्रयोजन? यदि अच्छा मित्र है तो उत्तम औषधियों की क्या आवश्यकता? यदि दुष्ट लोग हैं तो साँपों की क्या आवश्यकता? यदि निष्कलंक विद्या है तो धन से क्या प्रयोजन? यदि मनुष्य में लज्जाशीलता का गुण है तो उसे आभूषणों से क्या प्रयोजन और यदि उसमें काव्य करने की क्षमता है तो राज्य की क्या आवश्यकता?

व्याख्या–यदि मनुष्य में क्षमा करने का गुण है तो उसके शत्रु ही नहीं होंगे और उसे अपनी सुरक्षा की भी आवश्यकता नहीं होगी, तो उसे कवच से क्या प्रयोजन? क्रोध मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। क्रोध के होने पर उसे अन्य शत्रुओं की क्या आवश्यकता ? सगे सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव अग्नि के समान कष्टदायक (जलाने वाले) होते हैं, अतः सगे-सम्बन्धी होने पर अग्नि से भी भयभीत होने की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार सच्चा-मित्र सबसे बड़ी औषधि होता है। सच्चा हितैषी मित्र होने पर प्रभावशाली औषधियों की भी आवश्यकता नहीं है। दुष्ट लोग सांप से भी अधिक पीड़ा पहुंचाने वाले होते हैं क्योंकि सांप तो एक बार काटता है और मृत्यु ही हो जाती है किन्तु दुष्ट लोग तो बार-बार कष्ट पहुंचाते रहते हैं, काटते रहते हैं–इस प्रकार दुष्टों के होने पर साँपों से भी भयभीत होने की आवश्यकता नहीं। विद्या सबसे बड़ा धन है, विद्या ही सब ऐश्वर्यों को प्रदान कराने वाली है। विद्या के होते हुए अन्य धनों की क्या आवश्यकता? लज्जा मनुष्य का सबसे बड़ा गुण, सर्वश्रेष्ठ आभूषण हैं, अतः लज्जाशील मनुष्य को अलङ्कारों की कोई आवश्यकता नहीं। यदि मनुष्य में सरस कविता करने की शक्ति होती है तो उसे सुनने वालों की भीड़ लग जाती है और तब उसे राज्य की भी आवश्यकता नहीं होती, अच्छा कवि तो राजा से भी अधिक पूज्य होता है।

इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक के माध्यम से कवि यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि विद्वान् तथा उत्तम कवि सारे विश्व में सम्माननीय होता है। विद्या ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ धन तथा सर्वोत्तम आभूषण है।

प्रस्तत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **रूपक** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–क्षमाशीलानां मनुष्याणां कृते कवचस्य आवश्यकता न वर्तते ; यदि क्रोधः अस्ति तर्हि शत्रुभिः न किमपि प्रयोजनम् ; जाति-बान्धवः अग्निवत् सन्तापयन्ति; सन्मित्रे सति दिव्यौषधं निष्प्रयोजनम् ; यदि दुर्जनाः सन्ति तर्हि सर्पाणां न कापि आवश्यकता· सर्वार्थसाधिका विद्या अस्ति यदि तर्हि धनस्य किं प्रयोजनम् ? एवमेव यदि मानवः लज्जाशीलः वर्तते तर्हि भूषणैः न किमपि प्रयोजनम् ; सुकवित्वगुणे वर्तमाने राज्यं निष्प्रयोजनमेव। सुकविः राजवत् सर्वत्र पूज्यते, यतः विद्या सर्वार्थसाधिका भवति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

सुहृत्=शोभनं हृदयं यस्य सः ; बुहव्रीहि समास।

दिव्यौषधैः=दिव्यं च तत् औषधम्, तैः; कर्मधारय समास।

अनवद्या=न अवद्या इति ; नञ् तत्पुरुष समास।

सुकविता=शोभना कविता इति ; कर्मधारय समास।

सन्धि-विच्छेद–

क्षान्तिश्चेत्=क्षान्तिः+चेत्।

क्रोधोऽस्ति=क्रोधः+अस्ति।

ज्ञातिश्चेदनलेन =ज्ञातिः+चेत्+अनलेन।

सर्पैर्यदि=सर्पैः+यदि।

धनैर्विद्यानवद्या=धनैः+विद्या+अनवद्या।

यद्यस्ति=यदि+अस्ति।

दाक्षिण्यं स्वजने दया परजने शाठ्यं सदा दुर्जने
प्रीतिःसाधुजने नयो नृपजने विद्वज्जने चार्जवम्।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्तता
ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः।।21।।

अन्वयः–स्वजने दाक्षिण्यम्, परिजने दया, दुर्जने सदा शाठ्यम्, साधुजने प्रीतिः, नृपजने नयः, विद्वज्जने आर्जवम्, शत्रुजने शौर्यम्, गुरुजने क्षमा, नारीजने धूर्तता एवम् ये च पुरुषाः कलासु निपुणाः तेषु एव लोकस्थितिः।

प्रसंग–विभिन्न कलाओं में निपुण लोगों पर ही लोकमर्यादा आधारित है'–इस विषय का बहुत सुन्दर विवेचन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[स्वजने] अपने बन्धुओं पर। [दाक्षिण्यम्] उदारता। [परिजने] सेवकों पर। [दया] कृपा। [दुर्जने] दुष्ट लोगों पर। [सदा शाठ्यम्] सदा शठता। [साधुजने] सज्जनों के प्रति। [प्रीतिः] स्नेह। [नृपजने] राजाओं के प्रति। [नयः] नीतिपूर्वक व्यवहार। [विद्वज्जने] विद्वानों के प्रति। [आर्जवम्] सरलता का व्यवहार। [शत्रुजने] शत्रुओं के प्रति। [शौर्यम्] पराक्रम। [गुरुजने] पूज्यजनों के प्रति। [क्षमा] सहनशीलता। [नारीजने] स्त्रियों के प्रति। [धूर्तता] प्रगल्भता। [च] और [एवम्] इस प्रकार। [ये पुरुषाः] जो पुरुष। [कलासु] विभिन्न कलाओं में। [कुशलाः] निपुण हैं। [तेषु एव] उन पर ही। [लोकस्थितिः] लोक मर्यादा निर्भर करती है।

सरलार्थ–अपने सम्बन्धियों के प्रति उदारता, सेवकों पर कृपा-भावना, दुर्जनों के प्रति शठता, सज्जनों के प्रति स्नेह, राजाओं के प्रति नीतिपूर्वक आचरण करना, विद्वानों के प्रति सरलता का व्यवहार, शत्रुओं के प्रति पराक्रमशीलता, पूज्यजनों के प्रति सहनशीलता तथा स्त्रियों के प्रति धूर्तता का व्यवहार करना आदि विभिन्न कलाओं में निपुण लोगों पर ही इस संसार की मर्यादा अवलम्बित है।

व्याख्या–इस संसार में लोकमर्यादा का पालन करने वाले लोगों के विषय में बताते हुए कवि कहते हैं कि जिनमें बन्धु-बांधवों के प्रति उदारता, सेवकों के साथ निर्दयता का व्यवहार न करके दया भावना प्रदर्शित करना, दुर्जनों के साथ दुष्टता का आचरण, सज्जनों के साथ स्नेहपूर्ण आचरण रखना, राजाओं के प्रति नीतिपूर्वक आचरण रखना, विद्वानों के साथ विनम्रता तथा सरलता का व्यवहार, शत्रुओं के साथ पराक्रमपूर्ण व्यवहार, पूज्य लोगों के साथ सहनशीलता का आचरण तथा स्त्रियों के साथ ढीठता का व्यवहार रखना आदि गुण तथा अन्य कलाओं में जो निपुण हैं उन्हीं लोगों से यह संसार चल रहा है, उन्हीं लोगों पर संसार की मर्यादा आधारित है ; उन्हीं लोगों से संसार का संतुलन बना रहता है। उपरोक्त गुणों से युक्त लोग ही संसार की मर्यादा की रक्षा कर सकते हैं।

इस प्रकार कवि यहां स्पष्ट कर रहे हैं कि मनुष्य को किसके प्रति कैसा व्यवहार करना है–इस विषय में उसे बहुत सावधान रहना चाहिए। लोकव्यवहारकुशलता पर ही जीवन की सफलता आधारित है। मनुष्य सब मनुष्यों के साथ एक जैसा व्यवहार कर ही नहीं सकता।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **काव्यलिंग** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–ये जनाः स्वबन्धुवर्गे उदारतां, सेवकेषु दयां, दुर्जनेषु शाठ्यं, सज्जनेषु प्रीतिं, शासकवर्गे नीतिं, विद्वत्सु सरलतां, शत्रुषु पराक्रमं, पूज्यजनेषु सहनशीलतां, स्त्रीषु च प्रगल्भतां विदधति ते एव लोकव्यवस्थां संपादयितुं सक्षमाः।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

लोकस्थितिः=लोकस्य स्थितिः, षष्ठी तत्पुरुष समास।

सन्धि-विच्छेद–नयो नृपजने=नयः+नृपजने।

चार्जवम्=च+आर्जवम्।

चैवम्=च+एवम्।

कुशलास्तेष्वेव=कुशलाः+तेषु+एव।

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्।। 22।।

अन्वयः-(सत्संगतिः) धियः जाड्यम् हरति, वाचि सत्यम् सिञ्चति, मानोन्नतिम् दिशति, पापम् अपाकरोति, चेतः प्रसादयति; दिक्षु कीर्तिम् तनोति, कथय सत्संगतिः पुंसाम् किम् न करोति?

प्रसंग-सत्सङ्गति की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं।

शब्दार्थ-[धियः] बुद्धि की। [जाड्यम्] जड़ता को। [हरति] दूर करती हैं। [वाचि]

वाणी में। [सत्यम्] सत्य को। [सिञ्चति] संचार करती है। [मानोन्नतिम्] मान की वृद्धि को। [दिशति] सम्पन्न करती है। [पापम्] पाप को। [अपाकरोति] दूर करती है। [चेत:] मन को। [प्रसादयति] प्रसन्न करती है। [दिक्षु] दिशाओं में। [कीर्तिम्] यश को। [तनोति] फैलाती है। [कथय] बताओ। [सत्संगति:] सज्जनों की संगति [पुंसाम्] मनुष्यों का। [किम्] क्या। [न करोति] नहीं करती ?

सरलार्थ–सज्जनों की संगति दूसरे की बुद्धि की मन्दता को दूर करती है। वाणी में सत्य का संचार करती है। सम्मान की भावना में वृद्धि करती है। पाप की भावना का विनाश करती है, मन में निर्मलता तथा प्रसन्नता भरती है तथा सब दिशाओं में (सर्वत्र) यश को फैलाती है। इस प्रकार अच्छे लोगों का साथ कौन से हित का सम्पादन नहीं करता? बताओ।

व्याख्या–सत्सङ्गति मनुष्य का विविध प्रकार से उपकार करती है। अच्छा मित्र अपने मित्र की बुद्धि की मन्दता को दूर करने का प्रयत्न करता है, वह उसे सत्यभाषण के लिए प्रेरित करता है। सज्जनों का संग करने से दूसरा व्यक्ति भी समाज में सम्मान और प्रतिष्ठा को प्राप्त कर सकता है। सत्सङ्गति मनुष्य को दुष्कर्मों से हटाकर उसे सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त करती है, इस प्रकार उसके पापों का नाश होता है। सत्सङ्गति से मन पवित्र तथा आह्लादित होता है। इस से मनुष्य यशस्वी होता है। सत्सङ्गति निस्संदेह दिव्य औषधि है जिससे लाभ ही लाभ होता है तथा मनुष्य का जीवन सफल हो जाता है। इस प्रकार सत्सङ्गति अनेक प्रकार से हित करती है–इसमें सन्देह नहीं।

प्रस्तुत श्लोक में **वसन्ततिलका** छन्द तथा **दीपक** और **अर्थान्तरन्यास** अलंकार हैं।

संस्कृत-भावार्थ:–सत्संगति: मनुष्याणां बुद्धे: मन्दतां हरति, वाचि सत्यतां स्थापयति, मानं वर्धयति, पापं नाशयति, मन: आह्लादयति, कीर्तिं विस्तारयति च। एवं सत्सङ्गति: सर्वविधानि कल्याणानि सम्पादयति।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

हरति=√हृ, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सिञ्चति=√सिञ्च्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

वाचि=वाक् शब्द, सप्तमी विभक्ति, एकवचन।

मानोन्नतिम्=मानस्य उन्नति:, ताम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

दिशति=√दिश्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

अपाकरोति=अप+आ उपसर्ग √कृ, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

प्रसादयति=प्र उपसर्ग, √सद्+णिच्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

तनोति=√तन्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सत्सङ्गति:=सतां सङ्गति: ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

कथय=√कथ्, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

करोति=√कृ, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।। 23।।

अन्वयः–सुकृतिनः रससिद्धाः ते कवीश्वराः जयन्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयं नास्ति।

प्रसंग–प्रस्तुत श्लोक में कवि उन कवीश्वरों का यशोगान कर रहे हैं जिन्हें वृद्धावस्था अथवा मृत्यु से कोई भय नहीं होता।

शब्दार्थ–[ते] वे। [सुकृतिनः] पुण्यात्मा। [रससिद्धाः] शृंगार आदि रसों में निपुण। [कवीश्वराः] श्रेष्ठ कवि। [जयन्ति] विजयी होते हैं। [येषाम्] जिनके। [यशः काये] यश रूपी शरीर में। [जरामरणजम्] वृद्धावस्था तथा मृत्यु से उत्पन्न। [भयम्] भय। [नास्ति] नहीं होता।

सरलार्थ–वे पुण्यात्मा, शृंगारादि रसों में सिद्ध, श्रेष्ठ कवि विजयी होते हैं जिनके यश रूपी शरीर में वृद्धावस्था तथा मृत्यु से उत्पन्न भय नहीं होता।

व्याख्या–प्रस्तुत श्लोक में कवि उन महाकवियों की प्रशंसा कर रहे हैं जो यश के सामने अपने शरीर को कुछ नहीं गिनते, उनका शरीर चाहे नष्ट हो जाए किन्तु उनका यशस्वी शरीर सदा अमर रहता है। इस प्रकार रसों के क्षेत्र में निपुण, श्रेष्ठ एवं पुण्यात्मा कवि वृद्धावस्था तथा मृत्यु से कभी भयभीत नहीं होते, अतः वे सदा विजयी होते हैं। उनका यश कभी नष्ट नहीं होता।

प्रस्तुत श्लोक में **अनुष्टुप्** छन्द तथा **काव्यलिङ्ग** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–शृङ्गारादिरसेषु निपुणाः कवीश्वराः विजयन्ते येषां कीर्तिशरीरे वार्धक्यमृत्युजातं भयं न भवति। तेषां यशः शरीरं न कदापि नश्यति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

जयन्ति=√जि, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

सुकृतिनः=सुकृतम् अस्ति एषाम् इति ते ; बहुव्रीहि समास।

रससिद्धाः=रसेषु सिद्धाः ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

कवीश्वराः=कविषु ईश्वराः ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

अस्ति=√अस्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

यशः काये=यशः एव कायः, तस्मिन् ; कर्मधारय समास।

जरामणजम्=ज़रा च मरणं च, जरामरणम्, ताभ्यां जायते इति ; पञ्चमी तत्पुरुष समास।

सन्धि-विच्छेद् :-

नास्ति=न+अस्ति।

सूनुः सच्चरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुखः
स्निग्धं मित्रमवञ्चकः परिजनो निःक्लेशलेशं मनः।
आकारो रुचिरः स्थिरश्च विभवो विद्यावदातं मुखं
तुष्टे विष्टपकष्टहारिणि हरौ सम्प्राप्यते देहिना।। 24।।

अन्वयः-विष्टपकष्टहारिणि हरौ तुष्टे देहिना सच्चरितः सूनुः, सती प्रियतमा, प्रसादोन्मुखः स्वामी, स्निग्धं मित्रम्, अवञ्चकः परिजनः, निःक्लेशलेशं मनः, रुचिरः आकारः, स्थिरः विभवः, विद्यावदातं मुखं सम्प्राप्यते।

प्रसंग-भगवान् विष्णु का यशोगान करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं-

शब्दार्थ-[विष्टपकष्टहारिणि] संसार के कष्टों को दूर करने वाले। [हरौ] भगवान् विष्णु के। [तुष्टे सति] प्रसन्न होने पर। [देहिना] मनुष्य के द्वारा। [सच्चरित्रः] सदाचारी। [सूनुः] पुत्र [सती प्रियतमा] पतिव्रता पत्नी। [प्रसादोन्मुखः] प्रसन्न होने वाला। [स्वामी] स्वामी। [स्निग्धम्] स्नेही। [मित्रम्] मित्र। [अवञ्चकः] छलरहित। [परिजनः] सेवक। [निष्क्लेशलेशम्] सारे दुःखों से रहित। [मनः] मन। [रुचिरः] सुन्दर। [आकारः] आकृति। [स्थिरः] स्थायी। [विभवः] समृद्धि। [च] और। [विद्यावदातम्] ज्ञान से निर्मल। [मुखम्] मुख। [संप्राप्यते] प्राप्त किया जाता है।

सरलार्थ-संसार के कष्टों को दूर करने वाले भगवान् विष्णु के प्रसन्न होने पर मनुष्य सदाचारी पुत्र, सती-साध्वी पत्नी, प्रसन्न रहने वाला स्वामी, स्नेहशील मित्र, छलरहित सेवक, चिन्तारहित मन, सुन्दर आकृति, स्थायी समृद्धि तथा ज्ञान से निर्मल मुख को प्राप्त कर सकता है।

व्याख्या-मनुष्य को सच्ची श्रद्धा से भगवान् की भक्ति आराधना आदि करनी चाहिए। भगवान् के प्रसन्न होने पर मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है। भगवान् विष्णु संसार के कष्टों के विनाशक हैं तथा उनकी कृपा से मनुष्य को सदाचारी पुत्र, पतिव्रता पत्नी, प्रसन्नमुख स्वामी, विश्वासयुक्त सेवक, चिन्तारहित एवं शान्त मन, सुन्दर स्वरूप, चिरस्थायी सम्पत्ति तथा ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। यद्यपि मनुष्य का प्रयत्न अत्यंत आवश्यक है इन वस्तुओं की प्राप्ति में, किन्तु भगवान् की कृपा के बिना इन वस्तुओं की प्राप्ति संभव ही नहीं है।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **अनुप्रास** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः-भगवतः विष्णोः कृपया एव सदाचारी पुत्रः, पतिव्रता पत्नी, कृपालुः स्वामी, स्नेहशीलं मित्रम्, निश्छलः सेवकः, क्लेशहीनं चित्तं, आकर्षकं रूपं, स्थिरा लक्ष्मी, ज्ञानभास्वरं मुखं च लभ्यन्ते।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

विष्टपकष्टहारिणि=विष्टपस्य कष्टानि हरति इति विष्टपकष्टहारी, तस्मिन् ; उपपद समास।

तुष्टे=√तुष्+क्त प्रत्यय।

सच्चरित:=सत् चरितं यस्य स: ; बहुव्रीहि समास।

प्रसादोन्मुख:=प्रसादे उद्गतं मुखं यस्य स:; बहुव्रीहि समास।

स्निग्धम्=√स्निह्+क्त प्रत्यय।

अवञ्चक:=न वञ्चक: इति ; नञ् तत्पुरुष समास।

नि:क्लेशलेशम्=क्लेशानां लेश: क्लेशलेश: ; षष्ठी तत्पुरुष समास। निर्गत: क्लेशलेश: यस्मात् तत् ; बहुव्रीहि समास।

विद्यावदातम्=विद्यया अवदातम् ; तृतीया तत्पुरुष समास।

संप्राप्यते=सम् और प्र उपसर्ग √आप्+कर्मणि यक्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद–

परिजनो नि:क्लेशलेशम्=परिजन:+नि:क्लेशलेशम्।

आकारो रुचिर:=आकार:+रुचिर:।

स्थिरश्च=स्थिर:+च।

विभवो विद्यावदातम्=विभव:+विद्यावदातम्।

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं,
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम्।
तृष्णास्त्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा,
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः।। 25।।

अन्वय:–प्राणाघातात् निवृत्ति:, परधनहरणे संयम:, सत्यवाक्यम्, काले शक्त्या प्रदानम्, परेषाम् युवतिजनकथामूकभाव:, तृष्णास्रोतोविभङ्ग:, गुरुषु विनय:, सर्वभूतानुकम्पा, च एष: सर्वशास्त्रेषु अनुपहतविधि:, सामान्य: श्रेयसां पन्था: (अस्ति)।

प्रसंग–प्रस्तुत श्लोक में कवि मनुष्य के कल्याण के मार्ग का निरूपण करते हुए कहते हैं–

शब्दार्थ–[प्राणाघातात्] प्राणी हिंसा से। [निवृत्ति:] दूर रहना। [परधनहरणे] दूसरे के धन के हरण में। [संयम:] मन को न लगाना। [सत्यवाक्यम्] सत्य बोलना। [काले] उचित समय पर। [शक्त्या प्रदानम्] शक्ति के अनुसार दान देना। [परेषाम्] दूसरों की। [युवतिजनकथामूकभाव:] स्त्रियों की चर्चा के समय चुप रहना। [तृष्णास्रोतोविभङ्ग:]

लोभ के प्रवाह को रोकना। [गुरुषु] गुरुजनों के प्रति। [विनयः] विनम्र रहना। [सर्वभूतानुकम्पा] सब प्राणियों पर दया भाव रखना। [च] और [एषः] यह। [सर्वशास्त्रेषु] सब शास्त्रों में। [अनुपहतविधिः] अप्रतिषिद्ध नियम वाला। [सामान्यः] सर्वजनसाधारण। [श्रेयसां पन्थाः] कल्याणों का मार्ग है।

सरलार्थ–प्राणी हिंसा से विमुखता, पराए धन को लेने से मन को नियन्त्रित रखना, सत्यभाषण करना, समय पर तथा शक्ति के अनुसार दान देना, दूसरों की स्त्रियों की चर्चा के समय चुप रहना, लोभ के प्रवाह को रोकना, गुरुजनों के प्रति विनम्र रहना तथा सभी प्राणियों के प्रति दयाभाव रखना–यह सभी शास्त्रों में कभी लुप्त न होने वाला सर्वजन साधारण कल्याणों का मार्ग है।

व्याख्या–शास्त्रों में वर्णित कल्याण के मार्ग का निरूपण करते हुए कवि कहते हैं कि जीव हिंसा से विमुख रहना, दूसरे के धन में रुचि न रखना, सदा सत्य बोलना, आवश्यकता के समय दान देकर दूसरों का सहयोग करना, दूसरों की स्त्रियों की चर्चा में मन न लगाना, लोभ-लालच से मन को रोकना, बड़ों के प्रति विनम्र रहना तथा प्राणिमात्र के प्रति दयालु रहना–ये नियम सामान्य रूप से सभी शास्त्रों में वर्णित हैं तथा यही जनसाधारण के कल्याण के मार्ग हैं अर्थात् इनका अनुकरण करने से मानवमात्र का कल्याण सम्भव है। अतः इनका पालन करना मानवमात्र का कर्तव्य है।

प्रस्तुत श्लोक में **स्रग्धरा** छन्द तथा **समुच्चय** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–प्राणिहिंसानिवृत्तिः, अस्तेयं, सत्यभाषणं, दानशीलता, परस्त्रीजन-चर्चायाम् अप्रवृत्तिः, लोभशून्यता, विनम्रता, सकलजीवेषु दया च इत्येतानि मानवं कल्याणमार्गं प्रति नयन्ति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

प्राणाघातात्=प्राणानाम् आघातः, तस्मात्, ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

निवृत्तिः=नि उपसर्ग √वृत्+क्तिन् प्रत्यय।

परधनहरणे=परेषां धनानि परधनानि, तेषां हरणम्, तस्मिन् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

सत्यवाक्यम्=सत्यं च तद् वाक्यम् ; कर्मधारय समास।

युवतिजनकथामूकभावः=युवतयः एव जनाः युवतिजनाः, तेषां कथासु मूकभावः ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

तृष्णास्रोतोविभङ्गः=तृष्णायाः स्रोतांसि, तेषां विभङ्गः ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

सर्वभूतानुकम्पा=सर्वेषु भूतेषु अनुकम्पा ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

सर्वशास्त्रेषु=सर्वेषु शास्त्रेषु; सप्तमी तत्पुरुष समास।

अनुपहतविधिः=न उपहतः, अनुपहतः ; अनुपहतः विधिः यस्य सः, बहुव्रीहि समास।

सन्धि-विच्छेद–

प्राणाघातान्निवृत्तिः=प्राणाघातात् निवृत्तिः।

तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु=तृष्णास्रोतोविभङ्गः+गुरुषु।

सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः=सर्वशास्त्रेषु+अनुपहतविधिः।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति।। 26।।

अन्वयः–नीचैः विघ्नभयेन खलु न प्रारभ्यते, मध्याः प्रारभ्य विघ्नविहताः विरमन्ति, उत्तमजनाः विघ्नैः पुनः पुनः प्रतिहन्यमानाः अपि प्रारब्धम् (कर्म) न परित्यजन्ति।

प्रसंग–उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन प्रकार के लोगों का वर्णन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

शब्दार्थ–[नीचैः] निम्न प्रकृति के लोगों के द्वारा। [विघ्नभयेन] विघ्नों के भय से। [खलु] निश्चय ही। [न प्रारभ्यते] कार्य का आरम्भ नहीं किया जाता। [मध्याः] मध्यम वर्ग के लोग। [प्रारभ्य] कार्य को आरम्भ करके। [विघ्नविहताः] विघ्नों से पीड़ित होकर। [विरमन्ति] कार्य करना रोक देते हैं। [उत्तमजनाः] उत्तम प्रकृति के लोग। [विघ्नैः] विघ्नों से। [पुनः पुनः] बार बार। [प्रतिहन्यमानाः] पीड़ित होते हुए। [अपि] भी। [प्रारब्धम्] आरम्भ किए गए कार्य को। [न परित्यजन्ति] (अपूर्ण) नहीं छोड़ते।

सरलार्थ–अधम (नीच) श्रेणी के लोग विघ्नों के भय से कार्य प्रारम्भ ही नहीं करते, मध्यम श्रेणी के लोग कार्य को प्रारम्भ करके विघ्नों से पीड़ित होकर उसे (बीच में ही) छोड़ देते हैं किन्तु उत्तम प्रकृति के लोग विघ्नों से बार बार पीड़ित होते हुए भी आरम्भ हुए कार्य को (बीच में या अपूर्ण) नहीं छोड़ते, वे आरब्ध कार्य को पूरा करके ही शान्ति से बैठते हैं।

व्याख्या–तीन प्रकार के लोगों के स्वभाव का वर्णन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि नीच श्रेणी के लोग विघ्नों के भय से किसी भी कार्य को आरम्भ ही नहीं करते ; मध्यम प्रकृति के लोग कार्य को आरम्भ तो कर देते हैं किन्तु विघ्नों से पीड़ित होकर उसे अपूर्ण ही त्याग देते हैं। किन्तु उत्तम प्रकृति के लोग विघ्नों से पीड़ित होकर भी आरब्ध कार्य को अपूर्ण नहीं छोड़ते। विघ्न उनके कार्य की बाधा नहीं बनतीं और वे आरब्ध कार्य को पूरा करके ही छोड़ते हैं। वे बाधाओं से कभी विचलित नहीं होते। इस प्रकार उत्तम श्रेणी के लोग निस्संदेह प्रशंसनीय होते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में वसन्ततिलका छन्द तथा अनुप्रास अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–अस्मिन् संसारे अधमाः जनाः विघ्नभयेन कार्यं नारभन्ते, मध्यमाः पुरुषाः कार्यारम्भं तु कुर्वन्ति किन्तु विघ्नैः पीडिताः भूत्वा आरब्धं कार्यमपूर्णमेव त्यजन्ति ; उत्तमजनास्तु विघ्नैः वारं वारं पीड्यमानाः अपि आरब्धं कार्यं मध्ये अपूर्णं वा नैव त्यजन्ति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

प्रारभ्यते=प्र+आ उपसर्ग, √रभ्, कर्मणि यक्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

विघ्नभयेन=विघ्नेभ्य: भयम्, तेन ; पञ्चमी तत्पुरुष समास।

प्रारभ्य=प्र+आ उपसर्ग √रभ्+ल्यप् प्रत्यय।

विघ्नविहता:=विघ्नै: विहता: ; तृतीया तत्पुरुष समास।

विरमन्ति=वि उपसर्ग √रम्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

प्रतिहन्यमाना:=प्रति उपसर्ग √हन्, कर्मणि यक्+ शानच् प्रत्यय।

प्रारब्धम्=प्र+आ उपसर्ग √रभ्+क्त प्रत्यय।

उत्तमजना:=उत्तमाश्च ते जना: ; कर्मधारय समास।

परित्यजन्ति=परि उपसर्ग √त्यज्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

सन्धि-विच्छेद–

पुनरपि=पुन:+अपि।

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम्
त्वसन्तो नाभ्यर्थ्या: सुहृदपि न याच्य: कृशधन:।
विपद्युच्चै: स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम्।। 27।।

अन्वय:– प्रिया न्याय्या वृत्ति:, असुभंगे अपि मलिनम् असुकरम्, तु असन्त: न अभ्यर्थ्या:, कृशधन: सुहृद् अपि न याच्य:, विपदि उच्चै: स्थेयम्, महतां च पदम् अनुविधेयम्-इदं विषमम् असिधाराव्रतं सताम् केन उद्दिष्टम्?

प्रसंग– प्रस्तुत श्लोक में आचार्य भर्तृहरि बताना चाहते हैं कि सज्जनों ने तलवार की धार पर चलने के समान कठिन एवं भयानक मार्ग पर आचरण करना किससे सीखा ? वह मार्ग निस्संदेह अत्यंत कष्टदायक है–उसी का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ– [प्रिया] प्रिय। [न्याय्या] न्याययुक्त। [वृत्ति:] व्यवहार। [होना चाहिए]। [मलिनम्] निन्दनीय कर्म। [असुभङ्गे] प्राणनाश के समय में। [अपि] भी। [असुकरम्] दुष्कर होता है। [असन्त:] दुर्जन लोग। [न अभ्यर्थ्या:] प्रार्थना न किए जाने योग्य हैं। [कृशधन:] कम धन वाला। [सुहृद् अपि] मित्र भी। [न याच्य:] याचना करने योग्य नहीं है। [विपदि] आपत्काल में। [उच्चै:] ऊँचे (धैर्यपूर्वक) [स्थेयम्] रहना चाहिए। [च] और। [महताम्] महान् लोगों का। [पदम्] मार्ग। [अनुविधेयम्] अनुसरण करना चाहिए। [इदम्] यह [असिधाराव्रतम्] तलवार की धार जैसा तीक्ष्ण व्रत। [सताम्] सज्जनों को। [केन] किसके द्वारा। [उद्दिष्टम्] सिखाया गया।

सरलार्थ– प्रिय तथा न्यायपूर्ण आचरण करना चाहिए। प्राणों के विनाश के समय पर भी निन्दनीय कर्म नहीं करना चाहिए। दुर्जनों से प्रार्थना नहीं करनी चाहिए, कम धन वाले मित्र से मांगना नहीं चाहिए, विपत्ति के समय में भी धैर्यपूर्ण व्यवहार करना चाहिए तथा महापुरुषों के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए–ऐसे तलवार की धार के समान तीक्ष्ण एवं कठोर व्रत का सज्जनों को किसने उपदेश दिया? अर्थात् किसी ने नहीं।

व्याख्या–प्रस्तुत श्लोक में सज्जनों के अत्यंत कठोर व्रत की प्रशंसा करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि वे दुष्टों से कभी प्रार्थना नहीं करते, कम धन वाले मित्र से कुछ याचना नहीं करते। सज्जनों का व्यवहार प्रिय तथा न्यायपूर्ण होता है। प्राणों के संकट के समय में भी वे निन्दनीय कर्म नहीं करते, आपत्काल में भी धैर्यविहीन नहीं होते तथा स्वयं महापुरुषों के मार्ग का अनुसरण करते हैं। इन नियमों का पालन तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलने के समान कठिन होता है, इस प्रकार स्वयं कवि आश्चर्य और प्रशंसा करते हैं कि इतने कठोर व्रत का सज्जनों को किसने उपदेश दिया? किसी ने नहीं। स्वभावत: सज्जनों का व्यवहार ऐसा ही होता है। अत: मानवमात्र को इन नियमों का पालन करने का उपदेश दिया जा रहा है यहाँ।

प्रस्तुत श्लोक में **शिखरिणी** छन्द तथा **समुच्चय** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–प्रिया न्याययुक्ता च वृत्ति: अवलम्बनीया, निन्दनीयं कर्म प्राणान्तकालेऽपि न करणीयम्, दुर्जना: न प्रार्थनीया:, अल्पवित्त: सखा अपि न याचनीय:, एवमेव महापुरुषा: एव अनुकरणीया:। खड्ग्धारा इव दुष्करमिदं व्रतं सज्जनानां केन पुरुषेण उपदिष्टम्? न केनापि इति।

व्यांकरणात्मक-टिप्पणी–

असन्त:=न सन्त: इति ; नञ् तत्पुरुष समास।

अभ्यर्थ्या:= अभि उपसर्ग √अर्थ्+यत् प्रत्यय।

याच्य:=√याच् +यत् प्रत्यय।

कृशधन:=कृशं धनं यस्य स: ; बहुव्रीहि समास।

वृत्ति:=√वृत्+क्तिन् प्रत्यय।

असुभङ्गे=असूनां भंगे ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

अनुविधेयम्=अनु+वि उपसर्ग √धा+यत् प्रत्यय।

असिधाराव्रतम्=असे: धारा, असिधारा; असिधारा इव व्रतम् इति ; कर्मधारय समास

उद्दिष्टम्=उत् उपसर्ग √दिश्+क्त प्रत्यय।

सन्धिविच्छेद–

नाभ्यर्थ्या:=न+अभ्यर्थ्या:।

वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम्=वृत्ति:+मलिनम्+असुभङ्गे+अपि+असुकरम्।

विपद्युच्चै:=विपदि+उच्चै:।

केनोद्दिष्टम्=केन+उद्दिष्टम्।

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्रायोऽपि कष्टां
दशामापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि।
मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भकवलग्रासैकबद्धस्पृहः
किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसर: केसरी।। 28।।

अन्वयः–क्षुत्क्षामः अपि जराकृशः अपि शिथिलप्रायः अपि कष्टाम् दशाम् आपन्नः अपि विपन्नदीधितिः अपि प्राणेषु नश्यत्सु अपि मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भकवलग्रासैकबद्धस्पृहः मानमहताम् अग्रेसरः केसरी किं जीर्णं तृणम् अत्ति?

प्रसंग–'दुर्दशा को प्राप्त करके भी सिंह के समान स्वाभिमानी लोग नीच वृत्ति को नहीं अपनाते'–इस विषय का बहुत सुन्दर रूप से निरूपण कर रहे हैं यहाँ आचार्य भर्तृहरि–

शब्दार्थ–[क्षुत्क्षामः अपि] भूख से पीड़ित होता हुआ भी। [जराकृशः अपिः] वृद्धावस्था के कारण कमजोर भी। [शिथिलप्रायः अपि] पराक्रमहीन होता हुआ भी। [कष्टाम्] कष्टदायक। [दशाम्] अवस्था को। [आपन्नः अपि] प्राप्त होता हुआ भी। [विपन्नदीधितिः अपि] तेजहीन होता हुआ भी। [प्राणेषु] प्राणों के। [नश्यत्सु अपि] नष्ट होते हुए भी। [मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भकवलग्रासैकबद्धस्पृहः] मदमस्त हाथी के मस्तक को फाड़कर उसके मांस को खाने की इच्छा करने वाला। [अग्रेसरः]=अग्रगण्य। [केसरी]= सिंह। [जीर्णम् तृणम्] सूखी घास को। [अत्ति] खाता है। [किम्] क्या?

सरलार्थ–भूख के कारण पीड़ित होता हुआ भी, वृद्धावस्था के कारण कमजोर भी, पराक्रमहीन होता हुआ भी, कष्टदायक अवस्था को प्राप्त होता हुआ भी, तेजहीन होता हुआ भी तथा प्राणों के नष्ट होते हुए भी मदमस्त हाथी के मस्तक को फाड़कर उसके मांस को खाने की इच्छा करने वाला स्वाभिमानियों में अग्रगण्य सिंह क्या सूखी घास खाता है? अर्थात् कभी नहीं खाता।

व्याख्या–सिंह का उदाहरण देकर आचार्य भर्तृहरि मनुष्यमात्र को यह शिक्षा देना चाहते हैं कि जब सिंह अपने स्वाभिमान को नहीं छोड़ता तो मनुष्य अपने इस गुण को क्यों त्याग देता है? भूख से व्याकुल, वृद्धावस्था के कारण कमजोर, पराक्रमहीन, कष्टयुक्त, तेजहीन, मृत्यु के समीप भी श्रेष्ठ स्वाभिमानी सिंह सूखी घास ग्रहण नहीं करता। इसके विपरीत वह स्वयं मदमस्त हाथी के मस्तक को फाड़ता है, तब उसके मांस से वह अपनी क्षुधा को शान्त करता है। वह स्वयं हाथी को मारकर उसका मांस खाता है। अन्य पशुओं के द्वारा मारे हुए पशु को वह स्वीकार नहीं करता, चाहे भूख से उसके प्राण ही क्यों न निकल रहे हों। जब एक पशु में इतना अधिक स्वाभिमान है तो आश्चर्य है कि मनुष्य अपना स्वाभिमान क्यों त्याग देता है? मनुष्य को अपना सर्वस्व त्यागकर भी आत्मसम्मान की रक्षा करनी चाहिए।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **अप्रस्तुत प्रशंसा** अलंकार हैं।

संस्कृत-भावार्थः–जराजर्जरः, क्षुधापीडितः, मरणासन्नः अपि सिंहः कदापि शुष्कतृणं न खादति, सः सदैव मदोन्मत्तगजानां गण्डस्थलानि विदार्य तेषां मांसं भक्षयितुं प्रवर्तते। आत्माभिमानिनः जनाः सिंहवत् आचरन्ति।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–

क्षुत्क्षामः=क्षुधया क्षामः; तृतीया तत्पुरुष समासः।

जराकृश:=जरया कृश: ; तृतीया तत्पुरुष समास।

शिथिलप्राण:=शिथिला: प्राणा: यस्य स:; बहुव्रीहि समास।

आपन्न:=आ उपसर्ग √पद्+क्त प्रत्यय।

विपन्नदीधिति:=विपन्ना दीधिति: यस्य स:, बहुव्रीहि समास।

नश्यत्सु=√नश्+शतृ प्रत्यय।

मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भकवलग्रासैकबद्धस्पृह:=मत्तानाम् इभेन्द्रानां विभिन्नानां कुम्भानां कवलस्य ग्रासे एव एका बद्धा स्पृहा यस्य स:; बहुव्रीहि समास।

अत्ति=√अद्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

जीर्णम्=जृ+क्त प्रत्यय।

मानमहताम्=मानेन महताम् ; तृतीया तत्पुरुष समास।

अग्रेसर:=अग्रे सरति इति ; अलुक् तत्पुरुष समास।

सन्धि-विच्छेद–

क्षुत्क्षामोऽपि=क्षुत्क्षाम:+अपि।

जराकृशोऽपि=जराकृश:+अपि।

शिथिलप्राणोऽपि=शिथिलप्राण:+अपि।

आपन्नोऽपि=आपन्न:+अपि।

विपन्नदीधितिरपि= विपन्नदीधिति:+अपि।

नश्यत्स्वपि=नश्यत्सु+अपि।

स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनं निर्मांसमप्यस्थिकं
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न तु तत्तस्य क्षुधाशान्तये।
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं
सर्व: कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जन: सत्त्वानुरूपं फलम्।। 29।।

अन्वय:– श्वा स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनम् निर्मांसम् अपि अस्थिकं लब्ध्वा परितोषम् एति। तत् च तस्य क्षुधाशान्तये न अस्ति। सिंह: अङ्कम् आगतम् अपि जम्बुकम् त्यक्त्वा द्विपम् निहन्ति। कृच्छ्रगत: अपि सर्व: जन: सत्त्वानुरूपम् फलम् वाञ्छति।

प्रसंग–प्रस्तुत श्लोक में कवि यह भाव अभिव्यक्त करना चाहते हैं कि कष्ट को प्राप्त होने पर भी प्राणी अपनी शक्ति के अनुरूप फल प्राप्त करना चाहते हैं–

शब्दार्थ–[श्वा] कुत्ता। [स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनम्] तांत और चर्बी के बचे हुए थोड़े भाग से मलिन। [निर्मांसम्] मांसरहित। [अपि] भी। [अस्थिकम्] हड्डी के टुकड़े को। [लब्ध्वा] प्राप्त करके। [परितोषम् एति] सन्तुष्ट हो जाता है। [तत् तु] किन्तु वह। [तस्य] उसकी। [क्षुधाशान्तये न] भूख को शान्त करने के लिए नहीं होता। [सिंह:] शेर। [अङ्कम्] गोद में। [आगतम्] आए हुए। [अपि] भी। [जम्बुकम्] गीदड़ को। [त्यक्त्वा]

छोड़कर। [द्विपम्] हाथी को। [हन्ति] मारता है। [कृच्छ्रगत:] विपत्ति में पड़े हुए। [अपि] भी। [सर्व: जन:] सब लोग। [सत्त्वानुरूपम्] अपनी शक्ति के अनुरूप। [फलम्] फल। [वाञ्छति] चाहते हैं।

सरलार्थ–कुत्ता थोड़े से तांत और चर्बी के बचे हुए भाग से मलिन तथा मांसरहित हड्डी के टुकड़े को प्राप्त करके भी संतुष्ट हो जाता है, चाहे उससे उसकी भूख भी शान्त नहीं होती। इसके विपरीत सिंह गीदड़ को छोड़कर हाथी को मारता है। (उचित ही है कि) विपत्ति में पड़े हुए भी सब प्राणी अपनी-अपनी शक्ति के अनुरूप फल चाहते हैं।

व्याख्या–संसार में कुछ प्राणी कुत्ते के समान निम्न श्रेणी के होते हैं जो तुच्छ वस्तु को प्राप्त करके भी सन्तुष्ट हो जाते हैं चाहे वह हानिप्रद ही क्यों न हो किन्तु इसके विपरीत कुछ लोग सिंह की तरह पराक्रमी तथा स्वाभिमानी होते हैं जो अपनी सामर्थ्य के अनुरूप ही फल प्राप्त करना चाहते हैं। अपने स्वभाव से प्रतिकूल वस्तु को वे स्वीकार ही नहीं करते।

कुत्ता थोड़ी सी चर्बी के भाग से युक्त गंदी तथा मांसरहित हड्डी के टुकड़े से ही सन्तोष प्राप्त कर लेता है और उसे चाटता रहता है चाहे उस हड्डी से उसकी भूख भी शान्त नहीं होती। इसके विपरीत सिंह अनायास प्राप्त गीदड़ को त्यागकर हाथी को मारता है तथा उससे अपनी क्षुधा शान्त करता है। इस प्रकार यह कथन पूर्णतया उचित है कि प्राणी अपनी शक्ति के अनुकूल ही फल चाहता है।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **अर्थान्तरन्यास** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–श्वा निर्मासं मलिनमपि अस्थि प्राप्य सन्तोषम् अनुभवति यद्यपि इदमस्य बुभुक्षानिवारणाय न प्रभवति किन्तु सिंह: अङ्कमागतं जम्बुकं परित्यज्य गजं हन्ति। अत एव ज्ञायते यत् सर्वे जना: स्वसामर्थ्यानुसारं फलं वाञ्छन्ति, बलवान् व्यक्ति: उत्तमफलं, निर्बल: च निकृष्टफलमेव इच्छति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनम्=स्वल्पस्नायुवसयो: अवशेष:, तेन मलिनम्, तृतीया तत्पुरुष समास।

निर्मांसम्=निर्गतं मांसं यस्मात् तत् ; बहुव्रीहि समास।

क्षुधाशान्तये=क्षुधाया: शान्ति:, तस्मै ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

आगतम्=आ उपसर्ग √गम्+क्त प्रत्यय।

त्यक्त्वा=√त्यज्+क्त्वा प्रत्यय।

निहन्ति= नि उपसर्ग √हन्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सत्त्वानुरूपम्=सत्त्वस्य अनुरूपम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

वाञ्छति=√वाञ्छ् ; लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धिविच्छेद–

सिंहो जम्बुकम्=सिंह:+जम्बुकम्।

कृच्छ्रगतोऽपि=कृच्छ्रगत:+अपि।

लांगूलचालनमधश्चरणावपातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते।। 30।।

अन्वय:-श्वा पिण्डदस्य (परत:) लांगूलचालनम् अधश्चरणावपातम् भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च कुरुते, गजपुंगव: तु धीरम् विलोकयति चाटुशतै: च भुङ्क्ते।

प्रसंग-'स्वामी के सामने नीच तथा महान् लोगों का किस प्रकार का व्यवहार होता हैं'-इस विषय को प्रस्तुत करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं-

शब्दार्थ-[श्वा] कुत्ता। [पिण्डस्य] भोजन देने वाले के (सामने) [लाङ्गूल-चालनम्] पूंछ हिलाता है। [अध:] नीचे। [चरणावपातम्] पैरों में गिरता है। [भूमौ] भूमि पर। [निपत्य] गिरकर। [वदनोदरदर्शनम्] मुख तथा उदर दिखाना। [च] और [कुरुते] करता है। [तु] किन्तु। [गजपुंगव:] श्रेष्ठ हाथी। [धीरम्] गम्भीरतापूर्वक। [विलोकयति] देखता है। [च] और। [चाटुशतै:] सैकड़ों खुशामदों के द्वारा। (के बाद)। [भुङ्क्ते] खाता है।

सरलार्थ-कुत्ता भोजन देने वाले के सामने पूंछ हिलाता है, नीचे उसके पैरों में गिरकर तथा भूमि पर लेटकर अपना मुख तथा उदर दिखाता है किन्तु श्रेष्ठ गजराज (भोजन देने वाले की ओर) गम्भीरतापूर्वक देखता है तथा अनेक खुशामदों के बाद ही खाता है।

व्याख्या-प्रस्तुत श्लोक में कुत्ते और गजराज का उदाहरण देकर कवि स्वाभिमानहीन तथा स्वाभिमानी मनुष्य का बहुत सुन्दर प्रकार से विवेचन कर रहे हैं। स्वाभिमानहीन मनुष्य कुत्ते की तरह भोजन देने वाले को देखते ही पूंछ हिलाने लगता है, उसके पैरों में गिर जाता है, तथा पृथ्वी पर लेटकर अपना मुख तथा पेट दिखाने लगता है किन्तु धैर्यशाली एवं स्वाभिमानी मनुष्य श्रेष्ठ हाथी की तरह अपने स्वामी को पहले गम्भीरतापूर्वक देखता है तथा अनेक खुशामदों के बाद ही दी हुई वस्तु को स्वीकार करता है। धीर और अधीर पुरुष के स्वभाव में यही अन्तर है। इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक के माध्यम से आचार्य भर्तृहरि मनुष्य को श्रेष्ठ गजराज की तरह स्वाभिमानी तथा धैर्यशाली बनने की शिक्षा भी दे रहे हैं।

प्रस्तुत श्लोक में **वसन्ततिलका** छन्द तथा **अप्रस्तुत प्रशंसा** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:-श्वा अन्नदातु: पुरत: पुच्छचालनं करोति, तस्य पादयो: पतति, भूमौ निपत्य मुखोदरप्रदर्शनं करोति किन्तु गजराज: पिण्डदातारं धैर्येण विलोकयति अनेकै: अभ्यर्थनोपचारै: च खादति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी-

पिण्डदस्य=पिण्डं ददाति इति, तस्य, तत्पुरुष समास।

लाङ्गूलचालनम्=लाङ्गूलस्य चालनम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

चरणावपातम्=चरणयो: अवपात; सप्तमी तत्पुरुष समास।

निपत्य=नि उपसर्ग √पत्+ल्यप् प्रत्यय।

वदनोदरदर्शनम्=वदनं च उदरं चेति, तयो: समाहार: ; तस्य दर्शनम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

कुरुते=√कृ, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

गजपुङ्गव:=गज: पुङ्गव: इव ; कर्मधारय समास।

विलोकयति=वि उपसर्ग √लोक्+णिच्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

चाटुशतै:=चाटूनां शतानि, तै:; षष्ठी तत्पुरुष समास।

सन्धि विच्छेद–

अधश्चरणावपातम्=अध:+चरणावपातम्।

गजपुङ्गवस्तु= गजपुङ्गव:+तु।

चाटुशतैश्च=चाटुशतै:+च।

परिवर्तिनि संसारे मृत: को वा न जायते।
स जातो येन जातेन याति वंश: समुन्नतिम्।। 31।।

अन्वय:–परिवर्तिनि संसारे क: वा न मृत: क: वा न जायते। स: जात: येन जातेन वंश: समुन्नतिं याति।

प्रसंग–जन्म किसका धन्य है–इस विषय का प्रतिपादन किया जा रहा है इस श्लोक में–

शब्दार्थ–[परिवर्तिनि] परिवर्तनशील। [संसारे] संसार में। [क:] कौन। [न मृत:] मृत्यु को प्राप्त नहीं हुआ। [वा] अथवा। [न जायते] उत्पन्न नहीं होता है। [जात:] उत्पन्न हुआ है। [येन जातेन] जिसके उत्पन्न होने से। [स:] वह। [सम्मुन्नतिम्] उन्नति को। [याति] प्राप्त होता है। [वंश:] वंश या कुल।

सरलार्थ–इस परिवर्तनशील संसार में कौन नहीं मरता तथा कौन उत्पन्न नहीं होता किन्तु उसी का जन्म लेना सार्थक है जिसके जन्म लेने से वंश उन्नति को प्राप्त होता है।

व्याख्या–मृत्यु होना तथा मृत्यु के बाद पुन: जन्म लेना अर्थात् जन्म और मरण इस संसार का नियम है। संसार का कोई भी प्राणी यहां शाश्वत नहीं हैं। कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसका विनाश न होता हो किन्तु वास्तव में जन्म उसी का धन्य माना जाता है जिसके उत्पन्न होने से उसके वंश की उन्नति होती है, वंश का नाम होता है। अत: मनुष्य को ऐसे कार्य करने चाहिएँ जिनसे उसका और उसके वंश का सम्मान बढ़े।

प्रस्तुत श्लोक में अनुष्टुप् छन्द तथा काव्यलिंग अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–स्ववंशस्य उन्नतिकारकस्य एव जनस्य जन्म सफलं भवति, य:

स्ववंशोन्नतिं न करोति तस्य जन्म निरर्थकमेव यत: अस्मिन् परिवर्तनशीले जगति जन्ममरणे तु अपरिहार्ये एव।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

मृत:=√मृ+क्त प्रत्यय।

जायते=√जन्, आत्मनेपद, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

जात:=√जन्+क्त प्रत्यय।

याति=√या, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

समुन्नतिम्=सम्+उत् उपसर्ग, √नम्+क्तिन् प्रत्यय।

सन्धि विच्छेद–

को वा=क:+वा।

जातो येन=जात:+येन।

सन्त्यन्येऽपि बृहस्पतिप्रभृतय: संभाविता: पञ्चषा-
स्तान्प्रत्येष विशेषविक्रमरुची राहुर्न वैरायते।
द्वावेव ग्रसते दिवाकरनिशाप्राणेश्वरौ भास्वरौ
भ्रात:! पर्वणि पश्य दानवपति: शीर्षावशेषाकृति:।। 32।।

अन्वय:–अन्ये बृहस्पतिप्रभृतय: अपि पञ्चषा: सम्भाविता: सन्ति तान् प्रति एष: विशेषविक्रमरुचि: राहु: न वैरायते। हे भ्रात:! पश्य, शीर्षावशेषाकृति: दानवपति: दिवाकर-निशाप्राणेश्वरौ द्वौ एव पर्वणि ग्रसते।

प्रसंग–तेजस्वी मनुष्य ठीक स्थिति में रहते हुए भी पराक्रमी मनुष्यों पर ही अपना पराक्रम प्रदर्शित करता है, दुर्बल लोगों पर नहीं–इस विषय को प्रस्तुत करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

शब्दार्थ–[अन्ये] दूसरे। [बृहस्पति प्रभृतय:] बृहस्पति आदि। [अपि] भी। [पञ्चषा:] पांच छ:। [सम्भाविता:] श्रेष्ठ (ग्रह)। [सन्ति] हैं। (किन्तु) [विशेषविक्रमरुचि:] विशेष पराक्रम दिखाने की इच्छा वाला। [एष:] यह। [राहु:] राहु। [तान् प्रति] उनके प्रति। [न वैरायते] वैर-भाव नहीं रखता। [भ्रात:] हे भाई। [पश्य] देखो। [शीर्षावशेषाकृति:] केवल सिर ही शेष बचा है जिसका ऐसा। [दानवपति:] दानवराज राहु। [पर्वणि] पर्व के समय। [भास्वरौ] प्रकाशमान। [दिवाकरनिशाप्राणेश्वरौ] सूर्य तथा चन्द्रमा को। [द्वौ एव] दोनों को ही। [ग्रसते] ग्रसता है।

सरलार्थ–बृहस्पति आदि पांच छ: अन्य सम्मानित ग्रह हैं किन्तु विशेष पराक्रम दिखाने की इच्छा वाला राहु उन (ग्रहों) के प्रति वैरभाव नहीं रखता। हे भाई! देखो, दानवराज राहु जिसका केवल मस्तक ही शेष बचा है–वह अमावस्या तथा पूर्णमासी के दिन प्रकाशमान सूर्य एवं चन्द्रमा को ही ग्रसता है।

व्याख्या- आकाश में सोम, मंगल, बुध आदि अनेक श्रेष्ठ ग्रह हैं किन्तु अपना विशेष पराक्रम दिखाने की इच्छा वाला राहु उनके प्रति शत्रुता का भाव नहीं रखता। उसका वैर केवल अत्यंत तेज प्रकाश वाले सूर्य और चन्द्रमा से ही है। केवल मस्तक अवशिष्ट आकृति वाला राहु अमावस्या तथा पूर्णमासी के दिन सूर्यग्रहण एवं चन्द्रग्रहण के रूप में अत्यंत प्रकाशयुक्त सूर्य एवं चन्द्रमा को ग्रसता है। इस प्रकार राहु अत्यंत तेजस्वी सूर्य और चन्द्रमा के प्रति ही अपने पराक्रम को प्रदर्शित करता है, अन्य ग्रहों से उसे कोई प्रयोजन नहीं होता। तेजस्वी प्राणी अपने समान पराक्रमी प्राणियों पर ही अपना पराक्रम प्रदर्शित करता है। दुर्बल प्राणियों को पराजित कर तेजस्वी प्राणी विजय प्राप्त करने का इच्छुक कदापि नहीं होता।

प्रस्तुत श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द तथा अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः-शिरोमात्रावशिष्टदेहः राहुः तेजस्विनौ सूर्यचन्द्रमसौ एव ग्रसते, एवमेव मनस्वी पुरुषः दीनहीनस्थितौ अपि बलवत्स्वेव स्वपराक्रमं प्रदर्शयति न च बलहीनेषु।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी-

सन्ति=√अस् लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

पञ्चषाः=पञ्च वा षट् वा इति, बहुव्रीहि समास।

सम्भाविताः=सम् उपसर्ग √भू+णिच्+क्त प्रत्यय।

विशेषविक्रमरुचिः=विशेषे विक्रमे रुचिः यस्य सः; बहुव्रीहि समास।

वैरायते=वैर शब्द+क्यङ् प्रत्यय, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

ग्रसते=√ग्रस्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

दिवाकरप्राणेश्वरौ=दिवाकरः च प्राणेश्वरः च इति ; द्वन्द्व समास।

भास्वरौ=√भास्+वरप् प्रत्यय।

पश्य=√दृश्, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

दानवपतिः=दानवानां पतिः ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

शीर्षावशेषाकृतिः=शीर्षावशेषा आकृतिः यस्य सः, बहुव्रीहि समास।

सन्धि-विच्छेद-

सन्त्यन्येऽपि=सन्ति+अन्ये+अपि।

पञ्चषास्तान्=पञ्चषाः+तान्।

प्रत्येष=प्रति+एषः।

राहुर्न=राहुः+न।

द्वावेव=द्वौ+एव।

वहति भुवनश्रेणिं शेषः फणाफलकस्थितां
कमठपतिना मध्ये पृष्ठं सदा स च धार्यते।
तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोधिरनादरा-
दहह! महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः ।। 33 ।।

अन्वय:–शेष: फणाफलकस्थितां भुवनश्रेणिम् वहति। स च कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा धार्यते। तम् अपि पयोधि: अनादरात् क्रोडाधीनम् कुरुते। अहह! महतां चरित्रविभूतय: नि:सीमान:।

प्रसंग–'महापुरुषों का चरित्र अवर्णनीय होता है'–इस विषय का प्रतिपादन किया जा रहा है इस श्लोक में–

शब्दार्थ–[शेष:] शेषनाग। [फणाफलकस्थिताम्] फण रूपी फलक पर स्थित। [भुवनश्रेणिम्] भुवनों की पङ्क्ति को। [वहति] धारण करता है। [च] और। [स:] वह। [कमठपतिना] कच्छपराज के द्वारा। [सदा] सदा। [मध्येपृष्ठम्] पीठ के मध्य भाग पर। [धार्यते] धारण किया जाता है। [तम् अपि] उसे भी। [पयोधि:] समुद्र। [अनादरात्] अनायास ही। [क्रोडाधीनम्] गोद में (धारण)। [कुरुते] करता है। [अहह्!] अहो! [महताम्] महान् लोगों की। [चरित्रविभूतय:] चरित्र रूपी विभूतियां। [नि: सीमान:] असीमित (होती हैं)।

सरलार्थ–शेषनाग अपने फणपटल पर (चौदह) लोकों को धारण करता है, कच्छपराज इसे अपनी पीठ पर धारण करते हैं और उसे भी समुद्र अनायास अपनी गोद में रख लेता है। अहो ! महान् लोगों की चरित्रमहिमा असीम होती है।

व्याख्या–शेषनाग सारे लोकों के भार को अपने फणों पर धारण करता है। कच्छपराज शेषनाग सहित सारे लोगों के भार को अपनी पीठ पर धारण करते हुए नहीं थकते और इन सभी को समुद्र अपनी गोद में धारण करता है तथा किसी प्रकार का कष्ट भी अनुभव नहीं करता। निस्संदेह महापुरुषों में असीमित क्षमता होती है। उनके चरित्र की महिमा अवर्णनीय होती है–इसमें संदेह नहीं।

प्रस्तुत श्लोक में **हरिणी** छन्द है तथा श्लोक के प्रथम तीन चरणों में **माला दीपक** और अन्तिम चरण में **अर्थान्तरन्यास** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–शेषनाग: स्वफणेषु चतुर्दशभुवनानि धारयति, तं शेषनागं कच्छपदेव: वहति, कच्छपदेवं च अनायासेनैव समुद्र: क्रोडाधीनं कुरुते। सत्यं महानुभावानां चरितस्य माहात्म्यं नि:सीमं भवति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

वहति=√वह्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

भुवनश्रेणिम्=भुवनानां श्रेणि:, ताम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

फणाफलकस्थिताम्=फणा एव फलकम्, तस्मिन् स्थिताम् ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

कमठपतिना=कमठानां पति:, तेन ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

मध्येपृष्ठम्=पृष्ठस्य मध्ये इति ; अव्ययीभाव समास।

धार्यते=√धृ+णिच्, कर्मवाच्य, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

कुरुते=√कृ, आत्मनेपद, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

क्रोडाधीनम्=क्रोडस्य अधीनः तम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

निःसीमानः=नास्ति सीमा यासां ताः; बहुव्रीहि समास।

चरित्रविभूतयः=चरित्राणां विभूतयः; षष्ठी तत्पुरुष समास।

सन्धि-विच्छेद–

पयोधिरनादरादहह=पयोधिः+अनादरात्+अहह।

निःसीमानश्चरित्रविभूतयः=निःसीमानः+चरित्रविभूतयः।

वरं पक्षच्छेदः समदमघवन्मुक्तकुलिश-
प्रहारैरुद्गच्छद्बहुलदहनोद्गारगुरुभिः।
तुषाराद्रेः सूनोरहह! पितरि क्लेशविवशे
न चासौ सम्पातः पयसि पयसां पत्युरुचितः।। 34।।

अन्वयः–तुषाराद्रेःसूनोः उद्गच्छद्बहुलदहनोद्गारगुरुभिः समदमघवन्मुक्तकुलिशप्रहारैः पक्षच्छेदः वरम् अहह! पितरि क्लेशविवशे सति पयसाम् पत्युः पयसि असौ संपातः न च उचितः।

प्रसंग–'पुत्र का कर्तव्य है कि आपत्ति में पड़े हुए पिता की रक्षा करे। विपत्ति के समय पिता को छोड़कर अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए पुत्र का वहां से भाग जाना निन्दनीय है'–इसी विषय का प्रतिपादन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

शब्दार्थ–[तुषाराद्रेः] हिमालय पर्वत के। [सूनोः] पुत्र का। [उद्गच्छद्] ऊपर उठती हुई। [बहुलदहनोद्गारगुरुभिः] अग्नि की चिंगारियों के कारण असहनीय। [समदमघवन्मुक्तकुलिशप्रहारैः] गर्वयुक्त इन्द्र के द्वारा छोड़े हुए वज्र के प्रहारों से। [पक्षच्छेदः] पंखों का कट जाना। [वरम्] अच्छा (था)। [अहह] आह। (दुःख है)। [पितरि] पिता के। [क्लेशविवशे] क्लेश से विवश होने पर। [असौ] वह (उसका)। [पयसां पत्युः] जलों के स्वामी के (समुद्र के)। [पयसि] जल में। [सम्पातः] गिरना (छिपना)। [न उचितः] उचित नहीं था।

सरलार्थ–ऊपर उठती चिंगारियों से असहनीय तथा गर्वोन्मत्त इन्द्र के द्वारा छोड़े गए वज्र के प्रहारों से हिमालय के पुत्र मैनाक के पंखों का कट जाना तो उचित था किन्तु आह। क्लेश से विवश पिता को छोड़कर उसका समुद्र के जल में छिपना कदापि उचित नहीं था।

व्याख्या–मनस्वी पुत्र अपने पिता को आपत्ति में छोड़कर अपने प्राणों की रक्षा के बारे में नहीं सोचता और यदि वह अपने पिता को छोड़कर केवल अपने प्राणों की रक्षा करने का प्रयत्न करता है तो निस्संदेह उसका यह प्रयत्न निन्दनीय होता है–इसी बात को उदाहरण देकर यहां स्पष्ट किया जा रहा है। हिमालय के पुत्र मैनाक के लिए अपने पिता को आपद्ग्रस्त छोड़कर अग्नि की चिंगारियों के कारण प्रबल तथा गर्वयुक्त इन्द्र के वज्र के

प्रहारों से अपने पंखों का कटवा लेना उचित था, पिता को कष्ट की दशा में छोड़कर वहां से भागकर समुद्र के जल में छिप जाना कदापि उचित नहीं था। इस प्रकार आपद्ग्रस्त पिता की रक्षा करना पुत्र का प्रमुख कर्तव्य है। यदि वह पिता को आपत्ति में पड़ा हुआ छोड़कर अपने प्राणों की रक्षा करता है तो निस्संदेह उसका प्रयत्न अनुचित है। पुत्र को अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी पिता की रक्षा करनी चाहिए–यही उसका परम धर्म है।

इस श्लोक में एक पौराणिक घटना की ओर भी संकेत किया गया है कि प्राचीन काल में पर्वतों के पंख होते थे तथा वे पक्षियों की तरह उड़ सकते थे। लोककल्याण की कामना से इन्द्र ने पर्वतों के पंख काटने का निश्चय किया। जब इन्द्र का वज्र हिमालय के पंख काटने के लिए उसकी ओर आ रहा था तो हिमालय का पुत्र मैनाक पिता को संकट की स्थिति में छोड़कर ही अपनी रक्षा के उद्देश्य से समुद्र में छुप गया। उसके इस प्रयत्न की ही निन्दा की गई है इस श्लोक में। अपने पिता की रक्षा करना मैनाक का प्रथम कर्तव्य था न कि अपनी रक्षा के लिए वहां से भागना।

प्रस्तुत श्लोक में **शिखरिणी** छन्द तथा **अप्रस्तुतप्रशंसा** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–इन्द्रवज्रेण हिमालयस्य पक्षच्छेदे क्रियमाणे सति तस्य पुत्रेण मैनाकेन स्वरक्षणार्थं समुद्रस्य जले शरणं गृहीतम्, हिमालयः च क्लेशविह्वलः आसीत्। तस्य अस्य दुष्कृत्यस्य एव निन्दा वर्तते अस्मिन् श्लोके।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

पक्षच्छेदः=पक्षाणां छेदः ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

समदमघवन्मुक्तकुलिशप्रहारैः=समदेन मघवता मुक्तैः कुलिशस्य प्रहारैः ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

उद्गच्छद्बहुलदहनोद्गारगुरुभिः=उद्गच्छतः बहुलस्य दहनस्य उद्गाराः, तैः गुरवः, तैः ; तृतीया तत्पुरुष समास।

तृषाराद्रेः=तुषाराणाम् अद्रिः, तस्य ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

क्लेशविवशे=क्लेशेन विवशः, तस्मिन् ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

सन्धि-विच्छेद–

सूनोरहह!= सूनोः+अहह!

चासौ=च+असौ।

पत्युरुचितः=पत्युः+उचितः।

यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः।
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिं कथं सहते।। 35।।

अन्वयः–यत् अचेतनः अपि इनकान्तः सवितुः पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति तत् तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिम् कथं सहते?

प्रसंग–जब जड़ वस्तु दूसरे के द्वारा किए गए अपमान को सहन नहीं करती तो चेतन-प्राणी अपने अपमान को क्यों सहन कर लेता है–इस विषय को प्रतिपादित करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[यत्] जिस प्रकार। [अचेतनः अपि] अचेतन होते हुए भी। [इनकान्तः] सूर्यकान्त मणि। [सवितुः] सूर्य की। [पादैः] किरणों से। [स्पृष्टः] स्पर्श किए जाने पर। [प्रज्वलति] जल उठती है। [तत्] तो। [तेजस्वी पुरुषः] तेजस्वी मनुष्य। [परकृतिनकृतिम्] दूसरों के द्वारा किए गए अपमान को। [कथम्] क्यों। [सहते] सहन करता है?

सरलार्थ–जब सूर्यकान्त मणि अचेतन होने पर भी सूर्य की किरणों का स्पर्श पाकर जलने लगती है तो चेतन तथा तेजस्वी मनुष्य दूसरों के द्वारा किए गए अपमान को क्यों सहन करता है?

व्याख्या–दूसरे के द्वारा किए गए अपमान को सहन नहीं करना चाहिए। जब सूर्यकान्त मणि जैसी जड़ वस्तु सूर्य की किरणों के तेज को सहन न करके अपने अन्दर छिपे हुए तेज को प्रकट कर देती है इसी प्रकार चेतन और तेजस्वी मनुष्य को भी दूसरे के द्वारा किए गए अपमान को सहन नहीं करना चाहिए। उसे स्वाभिमान को बनाए रखना चाहिए।

प्रस्तुत श्लोक में **आर्या** छन्द तथा **दृष्टान्त** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–यदा अचेतनः अपि सूर्यकान्तमणिः सूर्यकिरणैः स्पृष्टः सन् प्रज्वलति तदा चेतनः तेजस्वी पुरुषः कथं परैः अपमानितः भूत्वा शान्त्या तिष्ठति, पराभवं सः कथं सहते?

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

अचेतनः=नास्ति चेतना यस्य सः ; बहुव्रीहि समास।

स्पृष्टः=√स्पृश्+क्त प्रत्यय।

प्रज्वलति=प्र उपसर्ग+√ज्वल्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

परकृतनिकृतिम्=परैः कृता निकृतिः, ताम् ; कर्मधारय समास।

सहते=√सह्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद–

यदचेतनोऽपि=यत्+अचेतनः+अपि।

सवितुरिनकान्तः=सवितुः+ इनकान्तः।

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु।
प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः।। 36।।

अन्वयः–सिंहः शिशुः अपि मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु निपतति, सत्त्ववतां इयं प्रकृतिः, खलु वयः तेजसः हेतुः, न।

प्रसंग–'तेजस्वियों की आयु नहीं देखी जाती या आयु तेज का कारण नहीं होती'–इस उक्ति का बहुत सुंदर रूप से निर्देश कर रहे हैं कवि यहां–

शब्दार्थ–[शिशुः अपि] कम आयु वाला बालक होते हुए भी। [सिंहः] शेर। [मदमलिनकपोलभित्तिषु] मद के कारण काले गण्डस्थल वाले। [गजेषु] हाथियों पर ही। [निपतति] आक्रमण करता है। [सत्त्ववताम्] बलशालियों का। [इयम् प्रकृतिः] यह स्वभाव ही होता है। [वयः] आयु या अवस्था। [तेजसः] तेज का। [हेतुः] कारण। [न] नहीं होती है। [खलु] सचमुच।

सरलार्थ–छोटी आयु से ही सिंह मद के कारण काले गण्डस्थल वाले [मदमस्त] हाथियों पर ही आक्रमण करता है (उस पर ही वह अपना पराक्रम दिखाता है)– यह बलशालियों का स्वभाव ही होता है। निश्चय ही आयु या अवस्था तेज का कारण नहीं होती।

व्याख्या–जिसका जैसा स्वभाव होता है वह बाल्यावस्था से ही होता है ; जैसे सिंह शावक बचपन से ही बलिष्ठ और मदमस्त हाथियां पर ही आक्रमण करता है। बच्चा होते हुए भी वह दुर्बल या छोटे प्राणी को शिकार बनाकर उन पर अपना पराक्रम प्रदर्शित करना नहीं चाहता क्योंकि यह उसका स्वभाव ही होता है। ठीक इसी प्रकार, पराक्रमी व्यक्ति अपने समान पराक्रम वाले व्यक्ति पर ही अपने शौर्य को प्रदर्शित करते हैं। अतः सत्य ही कहा गया है कि मनुष्य के तेज का कारण उसका स्वभाव होता है, आयु या अवस्था नहीं। यही भाव रघवुंश में प्राप्त होता है–'तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते।' (रघु॰ 11-1)

प्रस्तुतश्लोक में **आर्या** छन्द तथा **अर्थान्तरन्यास** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–शिशुः अपि सिंहः मत्तमातङ्गेषु आक्रामति। बलशालिनः स्वभावेनैव पराक्रमशालिनः भवन्ति यतः अवस्था पराक्रमस्य कारणं न भवति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

निपतति=नि उपसर्ग √पत्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

मदमलिनकपोलभित्तिषु=मदेन मलिनाः कपोलभित्तयः येषाम् ते, तेषु ; बहुव्रीहि समास।

प्रकृतिः=प्र उपसर्ग √कृ+क्तिन् प्रत्यय।

सत्त्ववताम्=सत्त्वम् अस्ति एषाम् इति ; बहुव्रीहि समास।

सन्धि-विच्छेद–

शिशुरपि=शिशुः+अपि।

प्रकृतिरियम्=प्रकृतिः+इयम्।

वयस्तेजसो हेतुः = वयः+तेजसः+हेतुः।

जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तत्राप्यधो गच्छतु
शीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः संदह्यतां वह्निना।

शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलं
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे।। 37।।

अन्वयः–जातिः रसातलं यातु, गुणगणः तत्रापि अधः गच्छतु, शीलं शैलतटात् पततु, अभिजनः वह्निना संदह्यताम्। वैरिणि शौर्ये आशु वज्रं निपततु, सः अर्थः नः केवलम् अस्तु। एकेन येन विना इमे समस्ताः गुणाः तृणलवप्रायाः (भवन्ति)।

प्रसंग–'धन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है'–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[जातिः] जाति (चाहे)। [रसातलम्] पाताल को। [यातु] चली जाए। [गुणगणः] गुणों का समूह। [तत्रापि] उससे भी। [अधः] नीचे। [गच्छतु] चला जाए। [शीलम्] सदाचार। [शैलतटात्] पर्वत की चोटी से। [पततु] गिर जाए। [अभिजनः] कुल। [वह्निना] आग से। [संदह्यताम्] जल जाए। [वैरिणि] शत्रु स्वरूप। [शौर्ये] पराक्रम पर। [आशु] शीघ्र। [वज्रम्] वज्र। [निपततु] गिर जाए। [नः] हमारा। [केवलम्] केवल। [अर्थः] धन। [अस्तु]। रह जाए। [एकेन] एकमात्र। [येन विना] जिसके बिना। [इमे] ये। [समस्ताः गुणाः] सारे गुण। [तृणलवप्रायाः] तिनके के समान हो जाते हैं।

सरलार्थ–चाहे जाति रसातल को चली जाए, गुणों का समूह रसातल से भी नीचे चला जाए, सदाचार पर्वत के तट से नीचे गिर जाए, वंश आग में जल जाए और शत्रुरूपी पराक्रम पर वज्रपात हो जाए किन्तु केवल हमारा धन रह जाए एकमात्र जिसके बिना ये सारे गुण तिनके के समान (निरर्थक) हो जाते हैं।

व्याख्या–धन की महिमा अभिव्यक्त करते हुए कवि कहते हैं कि हमारे पास धन का कभी अभाव न हो चाहे हमारी जाति धरातल से भी नीचे पाताल में चली जाए, चाहे हमारे गुण और भी नीचे जाकर लुप्त हो जाएँ, सदाचार चाहे पर्वत से नीचे गिरकर नष्ट हो जाए, वंश चाहे अग्नि में जल जाए, हमारे शौर्य पर चाहे वज्रपात हो जाए लेकिन हमारा धन कभी नष्ट न हो, धन हमेशा हमारे पास रहे क्योंकि धन के बिना मनुष्य के सारे गुण तिनके के समान निरर्थक हैं।

इसमें संदेह नहीं है कि यह अर्थ प्रधान युग है। धन से ही सारे कार्य सिद्ध होते हैं। धनी व्यक्ति का ही सब जगह मान-सम्मान होता है। धन की तुलना में जाति, वंश, कुल, सदाचार, अन्य सभी गुण कम महत्व रखते हैं। इस प्रकार यहां धन को सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित किया गया है। सत्य ही कहा गया है–'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति'।

अन्यत्र कही गई यह उक्ति भी सत्य ही है–

'टका धर्मः टका कर्म टका हि परमं पदम्।
यस्य पार्श्वे टका नास्ति हा टके टकटकायते।।' इति

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **काव्यलिंग** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:—धनं विना ब्राह्मणादि जातिः, सच्चरित्रं, शीलं, शौर्यम् अन्ये महत्वपूर्णाः गुणाः नैव शोभन्ते। धनाभावे सर्वे गुणाः तृणवत् मूल्यहीनाः भवन्ति, अतः सर्वैः धनोपार्जनं कर्तव्यम्।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी—

यातु=√या, लोट लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

गच्छताम्=√गम्, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। 'गच्छतु' के स्थान पर आत्मनेपदी प्रयोग।

शैलतटात्=शैलस्य तटः, तस्मात् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

रसातलम्=रसायाः तलम् इति; षष्ठी तत्पुरुष समास।

पततु=√पत्, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

गुणगणः=गुणानां गणः इति ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

सन्दह्यताम्=सम् उपसर्ग √दह्+कर्मणि यक्, आत्मनेपद, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

निपततु=नि उपसर्ग √पत् लोट्, लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

अस्तु=√अस्, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

नः=अस्मद् शब्द, षष्ठी विभक्ति, बहुवचन।

तृणलवप्रायाः=तृणस्य लवः, तेन तुल्याः तृणलवप्रायाः ; नित्यसमास।

सन्धि-विच्छेद—

जातिर्यातु=जातिः+यातु।

गुणगणस्तत्राप्यधो गच्छताम्=गुणगणः+ तत्र+अपि+अधः+गच्छताम्।

पतत्वभिजनः=पततु+अभिजनः।

निपतत्वर्थोऽस्तु=निपततु+ अर्थः+अस्तु।

येनैकेन=येन+एकेन।

गुणास्तृणलवप्रायाः=गुणाः+तृणलवप्रायाः।

समस्ता इमे=समस्ताः+इमे।

छात्र ध्यान दें यहां 'विना' के योग में 'एकेन' में तृतीया विभक्ति प्रयुक्त हुई है।

तानीन्द्रियाणि सकलानि तदेव नाम
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्।। 38।।

अन्वय:–सकलानि इन्द्रियाणि तानि एव; नाम तत् एव; अप्रतिहता सा बुद्धि:; तदेव वचनम् तु अर्थोष्मणा विरहित: सन् स एव पुरुष: क्षणेन अन्य: भवति इति एतत् विचित्रम् (अस्ति)।

प्रसंग–'धनहीन मनुष्य के व्यवहार में अत्यंत अन्तर आ जाता है' – इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[अविकलानि] विकाररहित। [तानि इन्द्रियाणि] वे ही इन्द्रियां हैं। [तदेव नाम] वही नाम है। [अप्रतिहता] अकुण्ठित (तीक्ष्ण) [बुद्धि:] बुद्धि है। [तदेव वचनम्] वही पहले जैसी वाणी है। [अर्थोष्मणा] धन की गर्मी से। [विरहित] हीन। [स एव पुरुष:] वही पुरुष। [क्षणेन] क्षणभर में। [अन्य:] दूसरा (भिन्न)। [भवति] हो जाता है। [इति एतत् विचित्रम्] यह आश्चर्य की बात है।

सरलार्थ–वही (पहले की तरह स्वस्थ) विकाररहित इन्द्रियां हैं, वही नाम है, वही अकुण्ठित (तीव्र)बुद्धि है, वही वाणी है किन्तु धन की गर्मी से रहित मनुष्य क्षणभर में ही भिन्न (व्यवहार वाला) हो जाता है, यह अत्यंत आश्चर्य की बात है।

व्याख्या–कितने आश्चर्य की बात है कि मनुष्य की इन्द्रियां पहले की तरह स्वस्थ तथा शक्तिशाली रहती हैं, नाम में कोई परिवर्तन नहीं आता, बुद्धि पहले की तरह तीव्र रहती हैं, वाणी भी पहले की तरह रहती है किन्तु धन के नष्ट हो जाने से मनुष्य का स्वभाव एकदम बदल जाता है।

इस प्रकार धन अत्यंत महत्वपूर्ण है। धन की गर्मी से युक्त मनुष्य का स्वभाव एकदम भिन्न होता है, वह अत्यंत आदरणीय होता है किन्तु धन की गर्मी से हीन व्यक्ति का जीवन तुच्छ तथा सारहीन होता है–यह पूर्णत: सत्य किन्तु आश्चर्य की बात है।

प्रस्तुत श्लोक में **वसन्ततिलका** छन्द तथा **काव्यलिंग** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–इन्द्रियाणि आदि यद्यपि पूर्ववत् अवतिष्ठन्ति किन्तु धनाभावे जन: भिन्नमाचरति-इति आश्चर्यम्। एवं संसारे धनं सर्वप्रधानम्-नास्ति अत्र सन्देह:।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

अविकलानि=न विकलानि इति ; नञ् तत्पुरुष समास।

अप्रतिहता=न प्रतिहता इति ; नञ् तत्पुरुष समास।

प्रतिहता=प्रति उपसर्ग √हन्+क्त प्रत्यय+टाप् प्रत्यय।

अर्थोष्मणा=अर्थस्य ऊष्मा, तेन ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

भवति=√भू, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद–

तानीन्द्रियाण्यविकलानि=तानि+इन्द्रियाणि+अविकलानि।

बुद्धिरप्रतिहता=बुद्धि:+अप्रतिहता।

तदेव=तत्+एव।

सोऽप्यन्य:=स:+अपि+अन्य:।

भवतीति=भवति+इति।

ऊष्मणा विरहित:-विरहित: के योग में ऊष्मणा में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

यस्यास्ति वित्तं स नर: कुलीन:
स पण्डित: स श्रुतवान्गुणज्ञ:।
स एव वक्ता स च दर्शनीय:
सर्वे गुणा: काञ्चनमाश्रयन्ति।। 39।।

अन्वय:-यस्य वित्तम् अस्ति स नर: कुलीन: स पंडित: स श्रुतवान् स गुणज्ञ: स एव च दर्शनीय: सर्वे गुणा: काञ्चनम् आश्रयन्ते।

प्रसंग-'सारे गुण धन पर ही आश्रित होते हैं'-इस तथ्य को बहुत सुन्दर तरीके से अभिव्यक्त कर रहे हैं कवि यहाँ-

शब्दार्थ-[यस्य] जिसके पास। [वित्तम् अस्ति] धन है। [स: नर:] वह मनुष्य। [कुलीन:] अच्छे कुल में उत्पन्न (कुलीन)। [स:] वह। [पण्डित:] विद्वान्। [स:] वह। [श्रुतवान्] शास्त्रों का ज्ञाता। [गुणज्ञ:] गुणों को जानने वाला। [स: एव] वही। [वक्ता] बोलने वाला। [स: च] और वह। [दर्शनीय:] देखने योग्य (होता है)। [सर्वे गुणा:] सारे गुण। [काञ्चनम्] सोने पर (धन पर)। [आश्रयन्ति] आश्रित होते हैं।

सरलार्थ-जिसके पास धन है वही मनुष्य कुलीन है, वही पण्डित (विद्वान्) है, वही शास्त्रों के ज्ञान से युक्त माना जाता है, वही अच्छा वक्ता होता है और वही देखने के योग्य होता है। सारे गुण धन पर आश्रित होते हैं।

व्याख्या-धनसम्पन्न होने पर गुणहीन व्यक्ति भी गुणवान्, श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न, विद्वान्, शास्त्रज्ञ, श्रेष्ठ वक्ता तथा देखने में सुन्दर हो जाता है अर्थात् धन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। धन के आने पर सभी गुण स्वत: आ जाते हैं तथा वह सम्माननीय हो जाता है किन्तु निर्धन व्यक्ति गुणसम्पन्न होते हुए भी सम्मान का पात्र नहीं होता। अत: सत्य कहा जाता है कि सारे गुण स्वर्ण अर्थात् धन से ही शोभा पाते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में उपजाति छन्द तथा **अतिशयोक्ति** और **काव्यलिंग** अलंकार हैं।

संस्कृत-भावार्थ:-य: नर: संसारे धनसम्पन्न: भवति स एव कुलीन:, पण्डित:, शास्त्रज्ञ:, गुणग्राही, सुवक्ता, दर्शनीय: च मन्यते, यत: हि सर्वे गुणा: धनमेव आश्रयन्ते। धनहीन: नर: विद्वान् अपि सन् सम्मानं न लभते।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी-

अस्ति=√अस्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

कुलीनः=कुलम् अस्य अस्तीति ; बहुव्रीहि समास।

श्रुतवान्=√श्रु + क्तवतु प्रत्यय।

गुणज्ञः=गुणान् जानाति इति ; उपपद समास।

वक्ता=√वच्+तृच् प्रत्यय ; पु०, प्रथमा विभक्ति, एकवचन।

दर्शनीयः=√दृश्+अनीयर् प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, एकवचन।

आश्रयन्ते=आ उपसर्ग √श्रि+णिच्, आत्मनेपद, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालना-
द्विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात्।
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रया-
न्मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्त्यागप्रमादाद्धनम्।। 40।।

अन्वयः–नृपतिः दौर्मन्त्र्यात्, यतिः संगात्, सुतः लालनात्, विप्रः अनध्ययनात्, कुलम् कुतनयात्, शीलम् खलोपासनात्, ह्रीः मद्यात्, कृषिः अनवेक्षणात्, स्नेहः प्रवासाश्रयात्, मैत्री च अप्रणयात्, समृद्धिः अनयात्, धनम् त्यागप्रमादात् विनश्यति।

प्रसंग–प्रस्तुत श्लोक में कवि राजा, पुत्र, ब्राह्मण, सदाचार, स्नेह, धन आदि के विनाश के कारण का वर्णन करते हुए कहते हैं–

शब्दार्थ–[नृपतिः] राजा। [दौर्मन्त्र्यात्] बुरी मन्त्रणा से। [यतिः] संन्यासी। [सङ्गात्] आसक्ति से। [सुतः] पुत्र। [लालनात्] लाड़-प्यार से। [विप्रः] ब्राह्मण। [अनध्ययनात्] अध्ययन न करने से। [कुलम्] वंश। [कुतनायात्] कुपुत्र से। [शीलम्] सदाचार। [खलोपासनात्] दुष्टों की संगति से। [ह्रीः] लज्जा। [मद्यात्] मदिरापान करने से। [कृषिः] खेती। [अनवेक्षणात्] देखभाल न करने से। [स्नेहः] प्रेम। [प्रवासाश्रयात्] परदेश में रहने से। [मैत्री] मित्रता। [अप्रणयात्] प्रेम न होने से। [समृद्धिः] ऐश्वर्य। [अनयात्] अन्याय के आचारण से। [धनम्] धन। [त्यागप्रमादात्] असावधानी होने से। [विनश्यति] नष्ट हो जाता है।

सरलार्थ–बुरी मन्त्रणा (सलाह) से राजा का नाश होता है, (विषयों में) आसक्ति से संन्यासी का, अधिक लाड़-प्यार से पुत्र का, अध्ययन न करने से ब्राह्मण का, कुपुत्र से वंश का, दुष्टों का संग करने से सदाचार का, शराब पीने से लज्जाशीलता का, देखरेख न करने से खेती का, परेदश में रहने से प्रेम का, स्नेह में कमी होने से मित्रता का, अन्यायपूर्ण आचरण करने से सुख का तथा लापरवाही से खर्च करने से धन का विनाश हो जाता है।

व्याख्या–किन-किन वस्तुओं या गुणों का किन कारणों से विनाश हो जाता है–इसकी बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति करते हुए कवि कहते हैं कि यदि राजा के मन्त्री राजा को बुरी सलाह देते हैं और वह उस कुमन्त्रणा का अनुसरण करता है तो उसका विनाश हो जाता है। इसी प्रकार विषयों की आसक्ति में **फंस जाने** से संन्यासी का तथा बहुत अधिक लाड़-प्यार

से पुत्र का नाश हो जाता है। नित्य शास्त्रों का अध्ययन करना ब्राह्मण का कर्तव्य है, अध्ययन न करने से ब्राह्मण का नाश हो जाता है। इसी प्रकार दुष्ट आचरण या स्वभाव वाला पुत्र पूरे वंश को नष्ट कर देता है। दुष्टों की संगति में रहने से मनुष्य के अपने सदाचार, सद्व्यवहार आदि नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार मदिरा-पान से लोक-लाज नष्ट हो जाती है। सावधान होकर देखभाल न करने से खेती बाड़ी नष्ट हो जाती है। आपस में प्रेम न होने से मित्रता नष्ट हो जाती है। अन्यायपूर्ण व्यवहार से धन-ऐश्वर्य तथा बिना सोचे समझे तथा अन्धाधुन्ध खर्च करने से धन नष्ट हो जाता है- इसमें संदेह नहीं। अतः धन का अपव्यय नहीं करना चाहिए और बहुत सोच समझ कर सावधानी के साथ ही धन का व्यय करना चाहिए। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए सावधान होकर जीवन-यापन करना चाहिए।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **दीपक** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–दुर्मन्त्रणायाः राजा, आसक्तेः योगी, अतिवात्सल्यात् पुत्रः, स्वाध्यायाभावात् ब्राह्मणः, कुपुत्रात् वंशः, दुष्टसंसर्गात् सदाचारः, सुरापानात् लज्जा, निरीक्षणाभावात् कृषिः, परदेशवासात् स्नेहः, अस्नेहात् मैत्री, अनयात् ऐश्वर्यं तथा अपव्ययात् प्रमादात् च धनं नश्यति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

नृपतिः=नृणां पतिः ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

अनध्ययनात्=न अध्ययनात् ; नञ् तत्पुरुष समास।

कुतनयात्=कुत्सितः तनयः, तस्मात् ; कर्मधारय समास।

खलोपासनात्=खलानाम् उपासनम्, तस्मात् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

अनवेक्षणात्=न अवेक्षणम्, तस्मात् ; नञ् तत्पुरुष समास।

प्रवासाश्रयात्=प्रवासस्य आश्रयः, तस्मात् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

अप्रणयात्=न प्रणयः, तस्मात् ; नञ् तत्पुरुष समास।

अनयात्=न नयः, तस्मात् ; नञ् तत्पुरुष समास।

विनश्यति=वि उपसर्ग √नश्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद–दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति=दौर्मन्त्र्यात्+नृपतिः+विनश्यति।

विप्रोऽनध्ययनात्=विप्रः+अनध्ययनात्।

कुतनयाच्छीलम्=कुतनयात्+शीलम्।

ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि=ह्रीः+मद्यात्+अनवेक्षणात्+अपि।

चाप्रणयात्=च+अप्रणयात्।

समृद्धिरनयात्=समृद्धिः+अनयात्।

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।

यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति।। 41।।

अन्वयः-वित्तस्य दानम्, भोगः नाशः (इति) तिस्रः गतयः भवन्ति। यः न ददाति न भुङ्क्ते तस्य (वित्तस्य) तृतीया गतिः भवति।

प्रसंग-धन की तीन गतियों का वर्णन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं-

शब्दार्थ-[दानम्] दान करना। [भोगः] उपभोग करना। [नाशः] नष्ट होना। [वित्तस्य] धन की। [तिस्रः] तीन। [गतयः] स्थितियां। [भवन्ति] होती हैं। [यः] जो व्यक्ति। [न] नहीं। [ददाति] देता है। [न भुङ्क्ते] न भोग करता है। [तस्य] उसकी। [तृतीया गतिः] तीसरी अवस्था। [भवति] होती है।

सरलार्थ-धन की तीन स्थितियां होती हैं-दान देना, उपभोग करना तथा नष्ट होना। जो व्यक्ति न धन का दान करता है, न ही स्वयं उसका उपभोग करता है उसके धन की तीसरी अवस्था होती है।

व्याख्या-धन को दान, परोपकार जैसे उत्तम कार्यों में लगाना ही बुद्धिमानी है तथा मनुष्य को उसे भोग के कार्यों में भी खर्च करना चाहिए किन्तु जो व्यक्ति न तो आवश्यकता के समय धन का दान करता है और न ही अपने भोग कार्यों में इसे लगाता है, उसके धन का नाश होना स्वाभाविक है। अतः धन का उचित प्रकार से व्यय करना भी अनिवार्य है। केवल धन का संचय करते रहने से उसकी तीसरी स्थिति अर्थात् विनाश स्वतः हो जाता है-इसमें संदेह नहीं है।

प्रस्तुत श्लोक में **आर्या** छन्द है।

संस्कृत-भावार्थः-धनस्य दानं कर्तव्यम्, उपभोगमपि कर्तव्यम् अन्यथा चौरैः तस्य अपहरणं स्वाभाविकमेव यतः दानं भोगो नाशः च इति धनस्य तिस्रः गतयः भवन्ति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी-

दानम्=√दा+ल्युट् प्रत्यय।

गतयः=√गम्+क्तिन् प्रत्यय, स्त्रीलिंग, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन।

भवन्ति=√भू, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

ददाति=√दा, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

भुङ्क्ते=√भुज्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

भवति=√भू, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद

भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति=भोगः+नाशः+तिस्रः+गतयः+भवन्ति।

यो न= यः+न।

गतिर्भवति=गतिः+भवति।

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिदलितो
मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः।
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः।। 42।।

अन्वयः–शाणोल्लीढः मणिः हेतिदलितः समरविजयी, मदक्षीणः नागः, शरदि श्यानपुलिनाः सरितः, कलाशेषः चन्द्रः, सुरतमृदिता बालवनिता, अर्थिषु गलितविभवाः जनाः च तनिम्ना शोभन्ते।

प्रसंग–'याचकों को धन का दान करके निर्धन हुआ व्यक्ति भी सम्मान का पात्र होता है'–इस विषय को अनेक उदाहरणों से प्रतिपादित कर रहे हैं कवि यहाँ–

शब्दार्थ–[शाणोल्लीढः] शाण पर तराशा गया। [मणिः] मणि, रत्न। [हेतिदलितः] शस्त्रों से घायल। [समरविजयी] युद्ध-विजयी। [मदक्षीणः] मद बहने से कमजोर हुआ। [नागः] हाथी। [शरदि] शरद्-ऋतु में। [श्यामपुलिनाः] सूखे हुए किनारों वाली। [सरितः] नदियाँ। [कलाशेषः] एक कलामात्र शेष रहने वाला। [चन्द्रः] चन्द्रमा। [सुरतमृदिता] रतिक्रीड़ा में मसली हुई। [बालवनिता] नवयुवती। [च] और। [अर्थिषु] याचकों को (बांटने से)। [गलितविभवाः] कम धन-सम्पत्ति वाले। [नराः] मनुष्य। [तनिम्ना] क्षीणता के कारण भी। [शोभन्ते] सुशोभित होते हैं।

सरलार्थ–ये सब वस्तुएं क्षीण (हल्की) होते हुए भी सुन्दर लगती हैं जैसे शाण पर तराशी हुई मणि, शस्त्रों से घायल किन्तु युद्ध में विजयी होने वाला योद्धा, मद चूने से कमजोर हुआ हाथी, शरद ऋतु में जल की कमी से सूखे तट वाली नदियां, एक ही कला से युक्त चन्द्रमा, रतिक्रीड़ा के समय मसली हुई नवयुवती तथा याचकों को बांटने से कम धन ऐश्वर्य वाले मनुष्य।

व्याख्या–प्रस्तुत श्लोक के माध्यम से कवि यह बताना चाहते हैं कि कुछ वस्तुएं हल्की होकर भी अपने सौन्दर्य को बढ़ाने वाली होती हैं जिस प्रकार मनुष्य अपना धन-ऐश्वर्य उचित पात्रों में बांटकर, कम धन सम्पत्ति वाले होकर भी शोभायुक्त रहते हैं। शाण पर तराशी हुई घिसकर चमकाई हुई मणि हल्की होती हुई भी और अधिक चमकदार तथा सुन्दर लगने लगती है, घायल होकर युद्धक्षेत्र से विजयी होकर लौटा हुआ योद्धा सबकी प्रशंसा का पात्र होता है, अधिक मद बहने से हाथी कई बार कुछ क्षीण भी हो जाता है किन्तु वह सुन्दर लगता है, शरद् ऋतु में नदियों का जल सूखने लगता है तथा उनके तटों पर रेत भी चमकने लगता है और वे पतली लगने लगती हैं लेकिन उनके सौन्दर्य में कमी नहीं आती, चन्द्रमा बची हुई अपनी एक कला (अंश) के साथ भी सुन्दर लगता है। सुरतक्रीड़ा के समय अपने प्रेमी के द्वारा मसली हुई नवयौवन सम्पन्ना प्रेमिका आकर्षक लगती है तथा उसी प्रकार आवश्यकता के समय धन को उचित पात्रों में बांटने से कम धन वाले मनुष्य सभी की

प्रशंसा के पात्र होते हैं, सभी उनका सम्मान करते हैं। बहुत सुन्दर भाव अभिव्यक्त किया गया है यहाँ। क्षीणता में ही उपरोक्त वर्णित वस्तुओं की सुन्दरता है।

प्रस्तुत श्लोक में **शिखरिणी** छन्द तथा **दीपक** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–यथा शाणोत्तेजितः मणिः, शस्त्रक्षतः समरविजयी योद्धा, मदक्षीणः गजः, शरदृतौ शुष्कतटा नदी, कलावशिष्टः चन्द्रः, रतिक्रीडामर्दिता नवयुवती च विभान्ति तथैव सत्पात्रेषु दत्तधनाः मनुष्याः च कृशत्वेन शोभन्ते। एवं कृशता तेषां शोभाहेतुः एव।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

शाणोल्लीढः=शाणे उल्लीढः ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

उल्लीढः=उत् उपसर्ग √लिह्+क्त प्रत्यय।

समरविजयी=समरे विजयी ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

हेतिदलितः=हेतिभिः दलितः ; तृतीया तत्पुरुष समास।

मदक्षीणः=मदेन क्षीणः ; तृतीया तत्पुरुष समास।

श्यामपुलिना=श्यामानि पुलिनानि यासां ताः ; बहुव्रीहि समास।

कलाशेषः=कलया शेषः ; तत्पुरुष समास।

अथवा कला एव शेषः यस्य सः ; बहुव्रीहि समास।

सुरतमृदिता=सुरते मृदिता ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

बालवनिता=बाला चासौ वनिता; कर्मधारय समास।

शोभन्ते=√शुभ्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

गलितविभवाः=गलिताः विभवा येषां ते ; बहुव्रीहि समास।

सन्धिविच्छेद–

हेतिदलितो मदक्षीणो नागः=हेतिदलितः+मदक्षीणः+नागः।

कलाशेषश्चन्द्रः=कलाशेषः+चन्द्रः।

गलितविभवाश्चार्थिषु=गलितविभवाः+च+अर्थिषु।

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये
पश्चात्सम्पूर्णः कलयति धरित्रीं तृणसमाम्।
अतश्चानैकान्त्याद्गुरुलघुतयाऽर्थेषु धनिना-
मवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च।। 43।।

अन्वयः–कश्चित् (धनिकः) परिक्षीणः सन् यवानाम् प्रसृतये स्पृहयति, स पश्चात् संपूर्णः सन् धरित्रीम् तृणसमाम् कलयति, अतः अर्थेषु गुरुलघुतया अनैकान्त्यात् च धनिनाम् अवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च।

प्रसंग–'मनुष्य की परिस्थिति ही वस्तुओं को मूल्यवान् अथवा मूल्यहीन बनाती है'–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[कश्चित्] कोई। [परिक्षीण:] निर्धन व्यक्ति। [यवानाम्] जौ के दानों की। [प्रसृतये] अञ्जुलि मात्र के लिए। [स्पृहयति] इच्छा करता है। [पश्चात्] बाद में। [स:] वह। [सम्पूर्ण:] सम्पन्न होकर। [धरित्रीम्] सम्पूर्ण पृथिवी को। [तृणसमाम्] तिनके के समान। [कलयति] समझने लगता है। [अत: च] इसीलिए। [अर्थेपु] विभिन्न वस्तुओं में। [अनैकान्त्याद्] अनित्यता के कारण। [गुरुलघुतया] लघुता और महत्ता के कारण। [धनिनाम्] धनवानों की। [अवस्था] स्थिति। [वस्तूनि] पदार्थों को। [प्रथयति] बड़ा बनाती है। [च] तथा। [सङ्कोचयति] छोटा बनाती है।

सरलार्थ–कोई निर्धन व्यक्ति मुट्ठी भर जौ के लिए इच्छा करता है, बाद में वही मनुष्य सम्पन्न होकर सम्पूर्ण पृथ्वी को तिनके के समान तुच्छ समझने लगता है। इसलिए वस्तुओं की लघुता और गुरुता के विषय में कोई नित्यता (स्थिरता) नहीं होती। धनवानों की अवस्था ही वस्तुओं को बड़ा और छोटा बनाती है।

व्याख्या–मनुष्य की आर्थिक स्थिति के अनुसार एक ही वस्तु कभी बहुमूल्य तथा कभी मूल्यहीन हो जाती है–इस विषय का निरूपण करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि जब मनुष्य दरिद्र होता है तो अपनी भूख शान्त करने के लिए वह सस्ता अनाज 'जौ' प्राप्त करने के लिए भी तरसता है किन्तु पुन: सम्पन्न अवस्था को प्राप्त करके बहुमूल्य सम्पत्ति को भी वह तिनके के समान तुच्छ समझता है। इस प्रकार किसी वस्तु का कोई निश्चित महत्व या मूल्य नहीं होता अपितु मनुष्य की आर्थिक स्थिति एवं आवश्यकता ही वस्तुओं के मूल्य को घटाती और बढ़ाती रहती है। पूर्णत: सत्य है आचार्य भर्तृहरि का यह कथन।

प्रस्तुत श्लोक में **शिखरिणी** छन्द तथा **काव्यलिंग** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–मानव: दरिद्र: सन् यवानाम् अञ्जलये अभिलषति किन्तु पुन: समृद्ध: भूत्वा स: अखिलां धरां तृणतुल्यां मन्यते। अत: वस्तूनां महत्त्वं लघुत्वं वा मनुष्यस्य अवस्थानुसारं अनिश्चितमेव भवति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

परिक्षीण:=परि उपसर्ग √क्षि+क्त प्रत्यय।

प्रसृतये=प्र उपसर्ग √सृ+क्तिन् प्रत्यय ; स्त्रीलिंग, चतुर्थी विभक्ति, एकवचन।

तृणसमाम्=तृणेन समा, ताम् ; तृतीया तत्पुरुष समास।

अनैकान्त्यात्=न ऐकान्त्यम्, तस्मात् ; नञ् तत्पुरुष समास।

गुरुलघुतया=गुरुश्च लघुश्च तयो: समाहार:, गुरुलघु ; द्वन्द्व समास ; तयो: भाव:, गुरुलघुता: तया।

प्रथयति=√पृथु+णिच्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सङ्कोचयति=सम् उपसर्ग √कुच् धातु+णिच्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद–

अतश्चानैकान्त्याद् गुरुलघुतयाऽर्थेषु=अत:+च+अनैकान्त्यात्+गुरुलघुतया+अर्थेषु।

राजन्! दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेतां
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण।
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे
नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः ।। 44 ।।

अन्वयः–हे राजन् ! यदि एताम् क्षितिधेनुम् दुधुक्षसि, तेन अद्य अमुम् लोकम् वत्सम् इव पुषाण। तस्मिन् च अनिशम् सम्यक् परिपुष्यमाणे भूमिः कल्पलता इव नानाफलैः फलति।

प्रसंग–प्रस्तुत श्लोक में कवि राजा को प्रजा का पालन करने का सदुपदेश देते हुए कहते हैं–

शब्दार्थ–[राजन्] हे राजा। [यदि] यदि। [एताम्] इस। [क्षितिधेनुम्] पृथ्वी रूपी गाय को। [दुधुक्षसि] तुम दुहना चाहते हो। [तेन] तो। [अद्य] अब। [वत्सम् इव] बछड़े के समान। [अमुम् लोकम्] इस प्रजा के लोगों का। [पुषाण] पालन करो। [च] और। [तस्मिन्] उसके। [अनिषम्] निरन्तर। [सम्यक्] अच्छी तरह से। [परिपोष्यमाणे] पाली पोसी जाने पर। [भूमिः] पृथ्वी। [कल्पलता इव] कल्पलता की तरह। [नानाफलैः] अनेक प्रकार के फलों को। [फलति] प्रदान करती है।

सरलार्थ–हे राजा ! यदि तुम इस पृथ्वी रूपी धेनु को दुहना चाहते हो तो बछड़े के समान लोगों का इस समय पालन पोषण करो तथा अच्छी प्रकार से और निरन्तर इसका पालन-पोषण होने पर वह पृथ्वी कल्पलता की तरह अनेक फलों को सम्पन्न करने वाली होती है (इच्छाओं को पूर्ण करने वाली होती है)।

व्याख्या–कवि राजाओं को पृथ्वी का भली-भांति पालन करने का उपदेश देते हुए कहते हैं कि यदि तुम इस पृथ्वी से अपनी मनोवांछित अभिलाषाओं की प्राप्ति चाहते हो तो इस पृथ्वी के प्रजारूपी बछड़ों का भली-भांति पालन-पोषण करो। जिस प्रकार गाय अपने बछड़े से प्रेम करने वाले गोपालक को दूध प्रदान करती है ऐसे ही प्रजाजनों से प्रेम करने वाले राजा को यह पृथ्वी हर प्रकार से उत्तम सफलता प्रदान करती है। प्रजा का अच्छी प्रकार से पालन-पोषण होने पर यह कल्पवृक्ष की तरह मनुष्य की इच्छाओं को पूर्ण करने वाली होती है।

कवि के कहने का भाव यही है कि यदि राजा पृथ्वी पर रहने वाले प्रजाजनों का

स्नेहपूर्वक पालन-पोषण करता है, तो प्रजा के लोग भी उसके सारे कामों को पूर्ण करने के लिए तत्पर रहते हैं और उसे उत्तम सफलता भी प्राप्त होती है, उसके राज्य का विस्तार होता है तथा राज्य समृद्ध भी होता है। अत: प्रजा-पालन राजा का प्रमुख कर्तव्य है।

प्रस्तुत श्लोक में **वसन्ततिलका** छन्द तथा **रूपक** एवं **उपमा** अलंकार हैं।

संस्कृत-भावार्थ:–हे राजन्! यथा यदि गोपालक: धेनो: वत्सं स्नेहेन पोषयति सा तस्मै दुग्धं प्रयच्छति, तथैव यदि राजा स्वप्रजाजनं स्वपुत्रवत् सम्यक् पालयति इयं वसुन्धरा तस्मै सर्वविधां समृद्धिं प्रदाय तस्य कल्याणं सम्पादयति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

दुधुक्षसि=√दुह्+सन्, लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

क्षितिधेनुम्=क्षिति: धेनु: इव, ताम् ; उपमितसमास।

पुषाण=√पुष्, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

परिपुष्यमाणे=परि उपसर्ग, √पुष्+कर्मणि यक्, शानच् प्रत्यय।

फलति=√फल्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद–

तेनाद्य=तेन+अद्य।

तस्मिंश्च = तस्मिन्+च।

कल्पलतेव=कल्पलता+इव।

सत्याऽनृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।
नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा।। 45।।

अन्वय:–सत्या अनृता च, परुषा प्रियवादिनी च, हिंस्रा दयालु: अपि, अर्थपरा वदान्या च नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च, वाराङ्गना इव नृपनीति: अनेकरूपा अस्ति।

प्रसंग–'राजनीति विविध रूपों वाली होती है, इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[सत्या] सच बोलने वाली। [अनृता] झूठ बोलने वाली। [च] और [परुषा] कठोर बोलने वाली। [प्रियवादिनी] प्रिय वचन बोलने वाली। [च] और (कभी)। [हिंस्रा] हिंसक। [दयालु: अपि] दयालु भी। [अर्थपरा] धन की लोभी। [वदान्या च] और कभी दानशीला। [नित्यव्यया] नित्य व्यय करने वाली। [प्रचुरनित्यधनागमा च] और कभी नित्य पर्याप्त धन कमाने वाली। [वाराङ्गना इव] वेश्या के समान। [नृपनीति:] राजाओं की नीति। [अनेकरूपा] अनेक रूपों वाली (होती है)।

सरलार्थ–वेश्या के समान राजाओं की नीति अनेक रूपों वाली होती है–कभी सच्ची, कभी झूठी ; कभी कठोर तो कभी प्रिय बोलने वाली ; कभी हिंसक तो कभी दयालु, कभी धन की लोभी तो कभी दानशीला और कभी नित्य व्यय करने वाली तथा कभी पर्याप्त धन प्राप्त कराने वाली।

व्याख्या–राजनीति की तुलना वेश्या से करते हुए कवि कहता है–वेश्या अपना लक्ष्य सिद्ध करने के लिए भिन्न-भिन्न पुरुषों के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार करती है उसी प्रकार राजाओं की नीति भी भिन्न-भिन्न लोगों के साथ विभिन्न प्रकार के रूपों वाली होती है। वेश्या की तरह राजाओं की नीति कभी सच्ची, कभी झूठी, किसी के प्रति कठोर, किसी के प्रति मधुर, किसी के प्रति हिंसक, किसी अन्य के प्रति दयालु, कभी-कभी धन का संग्रह करने वाली, कभी दान देने वाली और कभी धन खर्च करने वाली तथा कभी अत्यधिक मात्रा में धन प्राप्त कराने वाली होती है। इस प्रकार अवसरानुसार राजा अपनी नीति में परितर्वन लाता रहता है। आवश्यकतानुसार नीति को बदलकर वह अपना कार्य सिद्ध करना चाहता है क्योंकि वह सबके प्रति समान नीतिपूर्ण व्यवहार कर ही नहीं सकता।

प्रस्तुत श्लोक में **वसन्ततिलका** छन्द तथा **उपमा** और **विरोधाभास** अलंकार हैं।

संस्कृत-भावार्थ:–यथा सत्य-असत्य-कटु-मृदु आदि व्यवहारैः राजा विभिन्नैः पुरुषैः सह विभिन्नमाचरति तथैव वारांगना अपि विविधरूपा भवति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

प्रियवादिनी=प्रियं वदति इति ; उपपदसमास।

अर्थपरा=अर्थः एव परं यस्याः सा ; बहुव्रीहि समास।

सत्याऽनृता=सत्या च अनृता च, द्वन्द्व समास।

नित्यव्यया=नित्यं व्ययः यस्याः सा ; बहुव्रीहि समास।

प्रचुरनित्यधनागमा=प्रचुरः नित्यधनागमः यस्याः सा ; बहुव्रीहि समास।

वाराङ्गना=वारस्य (जनसमूहस्य) अङ्गना या सा ; बहुव्रीहि समास।

नृपनीतिः=नृपस्य नीतिः, षष्ठी तत्पुरुष समास।

अनेकरूपा=अनेकानि रूपाणि यस्याः सा ; बहुव्रीहि समास।

सन्धि-विच्छेद–

दयालुरपि=दयालुः+अपि।

चार्थपरा=च+अर्थपरा।

वाराङ्गनेव=वाराङ्गना+इव।

नृपनीतिरनेकरूपा=नृपनीतिः+अनेकरूपा।

आज्ञा कीर्तिः पालनं ब्राह्मणानां
दानं भोगो मित्रसंरक्षणं च।
येषामेते षड्गुणा न प्रवृत्ताः
कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण।। 46।।

अन्वयः–आज्ञा कीर्तिः ब्राह्मणानाम् पालनम् दानम् भोगः मित्रसंरक्षणम् एते षड्गुणाः येषाम् न प्रवृत्ताः तेषाम् पार्थिवोपाश्रयेण कः अर्थः।

प्रसंग–कैसे राजाओं का आश्रय नहीं लेना चाहिए–इस विषय का निरूपण करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

शब्दार्थ–[पार्थिव!] हे राजन् ! [आज्ञा] आज्ञा (देना)। [कीर्तिः] यश। [ब्राह्मणानाम्] ब्राह्मणों का। [पालनम्] पालन करना। [दानम्] दान देना। [भोगः] उपभोग करना। [मित्रसंरक्षणम्] मित्रों की रक्षा करना। [च] और। [एते] ये। [षट्] छः। [गुणाः] गुण। [येषाम्] जिनके (जिन राजाओं में)। [न प्रवृत्ताः] नहीं हैं। [तेषाम्] उनका। [उपाश्रयेण] आश्रय लेने से। [कः] क्या। [अर्थः] लाभ है?

सरलार्थ–आज्ञा देना, यश प्राप्त करना, ब्राह्मणों का पालन करना, दान देना, उपभोग करना तथा मित्रों की रक्षा करना-जिन राजाओं में ये छः गुण विद्यमान नहीं है उनके आश्रय में रहने से क्या लाभ।

व्याख्या–आचार्य भर्तृहरि राजाओं को उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे राजन्! जिनकी आज्ञा का पालन नहीं किया जाता, जिन्हें यश प्राप्त न हो, जो ब्राह्मणों का पालन न करते हों, जो धन को आवश्यकतानुसार तथा उचित पात्रों में दान न करते हों, धन-ऐश्वर्य का उपभोग न करते हों और जो मित्रों की रक्षा भी न करते हों– ऐसे राजाओं के आश्रय में रहने से कोई लाभ नहीं अर्थात् ऐसे राजाओं के पास रहना ही नहीं चाहिए।

आचार्य भर्तृहरि यहां यही उपदेश देना चाहते हैं कि राजा को इन छः गुणों से युक्त होना चाहिए तभी वह अपनी प्रजा का हित कर सकता है और उनकी प्रजा तभी सुखी रह सकती है।

प्रस्तुत श्लोक में **शालिनी** छन्द तथा **अप्रस्तुतप्रशंसा** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–शासनशक्तिसम्पन्नः, यशस्वी, ब्राह्मणसंरक्षकः, दानी, ऐश्वर्योपभोगी, मित्ररक्षकः च राजा एव आश्रयणीयः, एभिः गुणैः विरहितः राजा नैव सेवनीयः।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

पालनम्=√पाल्+ल्युट् प्रत्यय।

दानम्=√दा+ल्युट् प्रत्यय।

मित्रसंरक्षणम्=मित्राणां संरक्षणम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

प्रवृत्ता:=प्र उपसर्ग √वृत्+क्त प्रत्यय।

उपाश्रयेण=उप+आ उपसर्ग √श्रि+अच् प्रत्यय।

सन्धि-विच्छेद-

कोऽर्थस्तेषाम् = क:+अर्थ:+तेषाम्।

पार्थिवोपाश्रयेण = पार्थिव+उपाश्रयेण।

छात्र ध्यान दें कि 'अर्थ:' (प्रयोजन) के प्रयोग के कारण यहाँ 'उपाश्रयेण' शब्द में तृतीया विभक्ति लगी है।

यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद्वा धनं
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततो नाधिकम्।
तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथा:
कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम्।। 47।।

अन्वय:-धात्रा यत् स्तोकम् महत् वा धनम् निजभालपट्टलिखितम् तत् मरुस्थले अपि नितरां प्राप्नोति। मेरौ तत: अधिकम् न प्राप्नोति। तत् धीर: भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं मा कृथा:। पश्य कूपे पयोनिधौ अपि घट: तुल्यम् जलम् गृह्णाति।

प्रसंग-'मनुष्य के भाग्य में जितना कम या अधिक लिखा है, उतना उसे अवश्य ही प्राप्त होता है, अत: उसे आत्माभिमान नहीं छोड़ना चाहिए'-इस विषय को उदाहरण देकर बहुत सुन्दर रूप से समझाते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं-

शब्दार्थ-[धात्रा] ब्रह्मा के द्वारा। [स्तोकम्] थोड़ा। [महत्] अधिक। [वा] या। [यद् धनम्] जितना या जो धन। [निजभालपट्टलिखितम्] अपने भाग्य में लिखा गया है। [तत्] वह धन। [मरुस्थले अपि] मरुस्थल में भी। [नितराम्] अवश्य ही। [प्राप्नोति] वह प्राप्त कर लेता है। [तत:] उससे। [अधिकम्] अधिक। [मेरौ] सुमेरु पर्वत पर भी। [न] नहीं प्राप्त करता। [तत्] इसलिए [धीर:] धैर्यशाली। [भव] बनो। [वित्तवत्सु] धनवानों के सामने। [कृपणाम् वृत्तिम्] दीन स्थिति को। [वृथा] व्यर्थ ही। [मा] मत। [कृथा:] (प्रदर्शित) करो। [पश्य] देखो। [घट:] घड़ा। [कूपे] कुएं में से। [पयोनिधौ] सागर में से। [अपि] भी। [तुल्यम्] समान। [जलम्] जल को। [गृह्णाति] ग्रहण करता है।

सरलार्थ-विधाता ने मनुष्य के भाग्य में थोड़ा या अधिक जो भी धन लिख दिया है मनुष्य उसे मरुस्थल में भी निश्चित रूप से प्राप्त कर लेता है। यदि वह उससे अधिक धन प्राप्त करने की इच्छा से सुमेरु पर्वत पर भी चला जाए तो वहां भी वह उससे अधिक धन प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकता। अत: धैर्य धारण करो और धनवानों के सम्मुख अपनी

दीन-हीन प्रवृत्ति को मत दिखाओ। देखो-घड़ा कुएं या समुद्र में से भी समान जल की मात्रा को ही ग्रहण करता है।

व्याख्या-मनुष्य के लिए उसका आत्माभिमान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, अत: उसकी रक्षा करनी चाहिए- इस भाव को प्रस्तुत करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं-

मनुष्य के भाग्य में जितना धन-ऐश्वर्य आदि लिखा हुआ है वह उसे कहीं भी रहकर प्राप्त हो जाएगा। यदि वह और अधिक प्राप्त करने की इच्छा से स्वर्ण-पर्वत सुमेरु पर जाकर रहे तो भी उसे अधिक धन नहीं मिल पाएगा। अत: न तो उसे धैर्यविहीन होना चाहिए और न ही धनवानों के सम्मुख अपनी दीन-हीन दशा का प्रदर्शन कर और अधिक मांगने के लिए हाथ फैलाना चाहिए। उसे जो मिल जाए उसमें संतोष करना चाहिए तथा और अधिक प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। कवि घड़े का उदाहरण देकर अपने भाव को और सुदृढ़ करते हुए कहते हैं कि घड़े में चाहे कुएं में से जल भरा जाए चाहे समुद्र में से-उसमें जल की मात्रा समान ही होती है।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द और **दृष्टान्त** तथा **रूपक** अलंकार हैं।

संस्कृत-भावार्थः-मनुष्यस्य भाग्ये विधात्रा अधिकं स्वल्पं वा यत् धनं लिखितं स कुत्रापि तत् प्राप्नोति एव। यथा घट: कूपे समुद्रे वा तुल्यमेव जलं गृह्णाति। अत: धैर्यं विहाय स्वदीनहीना अवस्था नैव प्रदर्शनीया।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी-

धात्रा=√धा+तृच्, पुल्लिंग, तृतीया विभक्ति, एकवचन।

निजभालपट्टलिखितम्=निजभालम् एव पट्टम्, तस्मिन् लिखितम् ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

प्राप्नोति=प्र उपसर्ग √आप्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

मरुस्थले=मरु: एव स्थलम्, तस्मिन् ; कर्मधारय समास।

भव=√भू, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

वित्तवत्सु=वित्तम् अस्य अस्ति इति वित्तवान्, तेषु ; बहुव्रीहि समास।

वृत्तिम्=√वृत्+क्तिन् प्रत्यय।

कृथा:=√कृ, आत्मनेपद, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

पश्य=√दृश्, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

गृह्णाति=√ग्रह्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

पयोनिधौ=पयसां निधि:, तस्मिन् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

सन्धिविच्छेद-

यद् धात्रा=यत्+धात्रा।

मरुस्थलेऽपि=मरुस्थले+अपि।

नातोऽधिकम्=न+अत:+अधिकम्।

तद् धीरो भव=तत्+धीर:+भव।

पयोनिधावपि=पयोनिधौ+अपि।

घटो गृह्णाति=घट:+गृह्णाति।

त्वमेव चातकाधारोऽसीति केषां न गोचरः।
किमम्भोदवरास्माकं कार्पण्योक्तिं प्रतीक्षसे।। 48।।

अन्वय:-हे अम्भोदवर ! त्वम् एव चातकाधार: असि इति केषाम् गोचर: न अस्माकम् कार्पण्योक्तिम् किम् प्रतीक्षसे।

प्रसंग-'सच्चा दानी वही है जो याचकों की स्थिति देखकर मांगने से पहले ही दान दे देता है-' इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं-

शब्दार्थ-[अम्भोदवर] हे श्रेष्ठ मेघ। [त्वम् एव] तुम ही। [चातकाधार:] चातकों के जीवन का सहारा। [असि] हो। [इति] यह। [केषाम्] किन्हें। [न गोचर:] ज्ञात नहीं। [अस्माकम्] हमारे। [कार्पण्योक्तिम्] दीन वचनों को। [किम्] क्यों। [प्रतीक्षसे] तुम प्रतीक्षा करते हो?

सरलार्थ-हे श्रेष्ठ मेघ। कौन नहीं जानता कि तुम ही चातक पक्षियों के जीवन के आधार हो? फिर तुम हमारे दीन वचनों की प्रतीक्षा क्यों कर रहे हो?

व्याख्या-दानी पुरुषों की दानशीलता तथा दयालु स्वभाव का परिचय देते हुए कवि कहते हैं कि सच्चा दानशील व्यक्ति दीन-हीन पुरुष की कष्टपूर्ण स्थिति को याचना से पूर्व ही जान लेता है तथा उसकी सहायता भी कर देता है, क्योंकि उसे यह पूर्णत: विदित होता है कि याचक अपने अन्नदाता को छोड़कर और किससे याचना करेगा। यहां मेघ और चातक पक्षी का उदाहरण देकर कवि दानशील व्यक्ति के स्वभाव का परिचय दे रहे हैं। चातक अत्यन्त स्वाभिमानी है। वह बादलों से गिरते हुए जल को ही ग्रहण करता है अन्यथा प्यासा रहकर मृत्यु का वरण कर लेता है। अत: वह बादल से प्रार्थना करता है कि सबको ज्ञात है कि तुम ही चातक पक्षियों के जीवन-सर्वस्व हो, प्राणाधार हो। अत: तुम मेरी दीन-याचना की प्रतीक्षा क्यों कर रहे हो, जल बरसाकर मेरी तृष्णा शान्त क्यों नहीं करते? इस प्रकार कवि दानशील व्यक्तियों को संकेत कर रहे हैं कि दान तो वे देते ही हैं, याचकों की आवश्यकताओं की पूर्ति भी करते हैं तो उनकी महत्ता इसी में है कि अपने पर आश्रित लोगों की आवश्यकता को समझकर उनके मांगने से, प्रार्थना करने से पहले ही उनकी समस्या का समाधान कर दिया जाए।

प्रस्तुत श्लोक में **अनुष्टुप्** छन्द तथा **अन्योक्ति** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:-दानशीलै: महात्मभि: याचनात् पूर्वमेव स्वाश्रितानां याचकानां याचना: पूरयित्वा तेषां जीवनरक्षा कर्तव्या।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

चातकाधार:=चातकानाम् आधार: ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

असि=√अस्, लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

अम्भोदवर=अम्भोदेषु वर: ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

कार्यण्योक्तिम्=कार्पण्येन उक्ति:, ताम् ; तृतीया तत्पुरुष समास।

प्रतीक्षसे=प्रति उपसर्ग √ईक्ष्, लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

सन्धिविच्छेद–

चातकाधारोऽसीति = चातकाधार:+असि+इति।

अम्भोदवरास्माकम् = अम्भोदवर+अस्माकम्।

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयता-
मम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः।
केचिद्वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद्वृथा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः।। 49।।

अन्वय:–रे रे मित्र चातक! सावधानमनसा क्षणं श्रूयताम् गगने बहव: अम्भोदा: वसन्ति सर्वे अपि एतादृशा: न। केचिद् वृष्टिभि: वसुधाम् आर्द्रयन्ति केचिद् वृथा गर्जन्ति। यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरत: दीनं वच: मा ब्रूहि।

प्रसंग–प्रस्तुत श्लोक में चातक को सम्बोधित करते हुए मनुष्य मात्र को यह शिक्षा दी जा रही है कि याचक को बिना सोचे समझे सभी के सामने हाथ फैलाकर याचना नहीं करनी चाहिए–इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[रे रे मित्र चातक!] हे मित्र पपीहे! [सावधानमनसा] सावधान मन से। [क्षणम्] क्षण भर के लिए। [श्रूयताम्] सुनो। [गगने] आकाश में। [बहव:] बहुत से। [अम्भोदा:] बादल। [वसन्ति] रहते हैं। [सर्वे अपि] सभी। [एतादृशा: न] एक जैसे नहीं हैं। [केचित्] कुछ। [वसुधाम्] पृथ्वी को। [वृष्टिभि:] वर्षा से। [आर्द्रयन्ति] गीला कर देते हैं। [केचित्] कुछ [वृथा] व्यर्थ में ही। [गर्जन्ति] गरजते हैं। [यम् यम्] जिस किसी को। [पश्यसि] तुम देखते हो। [तस्य तस्य] उस उसके। [पुरत:] सामने। [दीनं वच:] दीन वचन। [मा] मत। [ब्रूहि] बोलो।

सरलार्थ–हे मित्र पपीहे ! क्षणभर के लिए सावधान मन से मेरी बात सुनो। आकाश में बहुत से बादल हैं परन्तु सभी ऐसे (दयालु) नहीं हैं। कुछ वर्षा से पृथ्वी को गीला कर देते हैं तथा कुछ व्यर्थ ही गरजते रहते हैं। इसलिए जिस जिस को तुम देखते हो उस उसके सामने दीन वचन मत बोलो।

व्याख्या– कवि यहाँ चातक को सम्बोधित करके मानवमात्र को यह उपदेश देना चाहते हैं कि मनुष्य को हर किसी व्यक्ति के सामने अपनी दु:खभरी गाथा नहीं गानी चाहिए। संसार में बहुत कम लोग ऐसे दयालु होते हैं जो दूसरों की सहायता करने को तत्पर

रहते हैं। सच्चे दानी-दयालु मनुष्य से ही याचना करनी चाहिए। हरेक के सामने हाथ नहीं फैलाना चाहिए जिस प्रकार आकाश में अनेक बादल हैं किन्तु उन सबसे चातक को जल के लिए याचना नहीं करनी चाहिए क्योंकि कुछ बादल ही वृष्टि करते हैं अधिकांश तो गरज कर ही रह जाते हैं। जिस प्रकार उन बादलों से वृष्टि करने के लिए प्रार्थना करना व्यर्थ है उसी प्रकार सबके सामने सहयोग की आशा से प्रार्थना करना या अपनी दीन हीन स्थिति को अभिव्यक्त करना निष्फल है।

प्रस्तुत श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द तथा अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–आकाशे अनेके मेघाः विद्यन्ते किन्तु केचन एव वृष्टिं प्रयच्छन्ति, अन्ये केवलं गर्जन्ति। अतः चातकैः कोऽपि मेघः जलप्रदानाय न प्रार्थनीयः, एवमेव धनाशया याचकैः कोऽपि मनुष्यः न अर्चनीयः, परीक्ष्यैव स्वयाचना प्रकाशनीया।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

सावधानमनसा=अवधानेन सहितं सावधानम् ; सावधानं मनः, तेन ; कर्मधारय समास।

श्रूयताम्=√श्रु+कर्मणि यक्, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्ति=√अस्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

आर्द्रयन्ति=√आर्द्र+णिच्+लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

गर्जन्ति=√गर्ज्+लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

पश्यसि=√दृश्+लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

ब्रूहि=√ब्रू+लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद

बहवो वसन्ति=बहवः+वसन्ति।

सर्वेऽपि=सर्वे+अपि।

नैतादृशाः=नं+एतादृशाः।

वृष्टिभिरार्द्रयन्ति=वृष्टिभिः+आर्द्रयन्ति।

पुरतो मा=पुरतः+मा।

अकरुणत्वमकारणविग्रहः
परधने परयोषिति च स्पृहा।
सुजनबन्धुजनेष्वसहिष्णुता
प्रकृतिसिद्धमिदं हि दुरात्मनाम्।। 50।।

अन्वयः–अकरुणत्वम् अकारणविग्रहः, परधने परयोषिति च स्पृहा, सुजनबन्धुजनेषु असहिष्णुता, इदं दुरात्मनाम् प्रकृतिसिद्धं हि।

प्रसंग–दुर्जनों के स्वभाव का वर्णन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

शब्दार्थ–[अकरुणत्वम्] निर्दयता। [अकारणविग्रहः] विना कारण लड़ाई करना। [परधने] दूसरों के धन में। [परयोषिति च] और दूसरे की स्त्री में। [स्पृहा] इच्छा रखना। [सुजनबन्धुजनेषु] सज्जनों तथा बन्धुजनों के प्रति। [असहिष्णुता] असहनशीलता। [हि] निश्चयपूर्वक। [इदम्] यह। [दुरात्मनाम्] दुष्टों के। [प्रकृतिसिद्धम्] स्वभाव सिद्ध लक्षण हैं।

सरलार्थ–दयाहीनता, बिना कारण झगड़ना, दूसरों के धन तथा स्त्री में इच्छा रखना, सज्जनों तथा बन्धुओं के प्रति असहनशीलता–ये दुष्टों के स्वभावसिद्ध चिह्न हैं।

व्याख्या–दुष्टों के स्वभाव में पांच बातें स्वतः पाई जाती हैं ; निर्दयता, बिना कारण ही दूसरों से झगड़ने लगना, दूसरों के धन के प्रति लालच भावना, दूसरों की स्त्रियों को प्राप्त करने की इच्छा रखना तथा सज्जनों तथा अपने सम्बन्धियों से ईर्ष्या भाव रखना– ये दुर्गुण दुष्ट लोगों में जन्म से ही पाए जाते हैं, अतः ऐसे दुष्टों से सदा दूर रहना चाहिए।

प्रस्तुत श्लोक में **द्रुतविलम्बित** छन्द है।

संस्कृत-भावार्थः–दुर्जनाः स्वभावतः एव दयाहीनाः, कलहप्रियाः परधने परस्त्रीषु च कामुकाः, सज्जनेषु बान्धवेषु च ईर्ष्यालवः भवन्ति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

अकरुणत्वम्=करुणायाः भावः करुणत्वम्। न करुणत्वम् इति, नञ् तत्पुरुष समास।

अकारणविग्रहः=न विद्यते कारणं यस्मिन् सः अकारणः। अकारणः चासौ विग्रहः इति कर्मधारय समास।

परधने=परेषां धनम्, तस्मिन् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

परयोषिति=परस्य योषित्, तस्याम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

सुजनबन्धुजनेषु=सुजनाः च बन्धुजनाः च, तेषु ; द्वन्द्व समास।

असहिष्णुता=न सहिष्णुता इति ; नञ् तत्पुरुष समास।

प्रकृतिसिद्धम्=प्रकृत्या सिद्धम् इति ; तृतीया तत्पुरुष समास।

दुरात्मनाम्=दुष्टः आत्मा येषां ते, तेषाम् ; बहुव्रीहि समास।

सन्धि-विच्छेद

सुजनबन्धुजनेष्वसहिष्णुता=सुजनबन्धुजनेषु+असहिष्णुता।

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलंकृतोऽपि सन्।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः॥ 51॥

अन्वयः–विद्यया अलंकृतः अपि सन् दुर्जनः परिहर्तव्यः। मणिना भूषितः सर्पः असौ किम् भयङ्करः न।

प्रसंग–'दुष्ट व्यक्ति सुशिक्षित होते हुए भी त्याज्य है'–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

शब्दार्थ-[विद्यया] विद्या से। [अलङ्कृत:] सुशोभित। [सन्] होता हुआ। [अपि] भी। [दुर्जन:] दुष्ट व्यक्ति। [परिहर्तव्य:] त्याग करने योग्य है। [मणिना] मणि से। [भूपित:] विभूषित। [असौ] यह। [सर्प:] सांप। [भयङ्कर:] भयंकर। [किम् न] क्या नहीं होता?

सरलार्थ-विद्या से विभूषित होता हुआ भी दुष्ट व्यक्ति त्यागने योग्य होता है। क्या मणि से मण्डित सर्प भयङ्कर नहीं होता?

व्याख्या-मणि वहुमूल्य होती है-यह सब जानते हैं किन्तु मणि को धारण करने वाला होता हुआ भी सांप अत्यंत भयङ्कर होता है, कोई उसके समीप जाने का साहस नहीं कर सकता, इसी प्रकार दुष्ट व्यक्ति विद्वान् होते हुए भी अर्थात् सुशिक्षित होते हुए भी त्याग करने योग्य होता है। अपनी दुष्टता के कारण दुर्जन सांप की तरह भयानक एवं परित्याज्य होता है।

प्रस्तुत श्लोक में **अनुष्टुप्** छन्द तथा **दृष्टान्त** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:-विद्यया सुशोभित: अपि दुष्ट: नर: मणिभूषित: सर्प: इव भयङ्कर: भवति, अत: स: सर्वदा परित्याज्य: एव।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

दुर्जन:=दुष्ट: जन: दुर्जन: ; कर्मधारय समास।

परिहर्तव्य:=परि उपसर्ग √हृ+तव्य प्रत्यय।

अलंकृत:=अलम् उपसर्ग √कृ+क्त प्रत्यय।

भूपित:=√भूप्+क्त प्रत्यय।

सन्=√अस्+शतृ प्रत्यय।

भयंकर:=भयं करोति इति भयंकर:।

सन्धि-विच्छेद

परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि = परिहर्तव्य:+विद्यया+अलंकृत:+अपि।

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भ: शुचौ कैतवं
शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्ति: स्थिरे
तत्को नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाकित:।। 52।।

अन्वय:-ह्रीमति जाड्यं गण्यते, व्रतरुचौ दम्भ:, शुचौ कैतवं, शूरे निर्घृणता, मुनौ विमतिता, प्रियालापिनि दैन्यं, तेजस्विनि अवलिप्तता, वक्तरि मुखरता, स्थिरे अशक्ति: तत् गुणिनाम् क: नाम गुण: भवेत् य: स: दुर्जनै: न अंकित:।

प्रसंग-'सज्जनों में विद्यमान गुणों को भी दुष्ट लोग दोषों के रूप में ही देखते हैं'-इस विषय का प्रतिपादन किया जा रहा है इस श्लोक में-

शब्दार्थ–[ह्रीमति] लज्जाशील मनुष्य में। [जाड्यम्] जड़ता, मूर्खता। [व्रतरुचौ] व्रतों में रुचि रखने वाले में। [दम्भ:] पाखण्ड। [शुचौ] पवित्रात्मा में। [कैतवम्] कपट। [शूरे] शूरवीर में। [निर्घृणता] निर्दयता। [मुनौ] मननशील में। [विमतिता] बुद्धिहीनता। [प्रियालापिनि] प्रिय बोलने वाले में। [दैन्यम्] दीनता। [तेजस्विनि] तेजस्वी मनुष्य में। [अवलिप्तता] घमण्ड। [वक्तरि] वक्ता में। [मुखरता] वाचालता, बकवादीपन। [स्थिरे] शान्त व्यक्ति में। [अशक्ति:] असमर्थता। [गण्यते] समझी जाती है। [तत्] इसलिए। [गुणिनाम्] गुणवानों का। [स:] वह। [क: नाम गुण:] कौन सा गुण है। [य:] जो। [दुर्जनै:] दुष्टों के द्वारा। [न अङ्कित:] दोषयुक्त नहीं माना जाता।

सरलार्थ–दुष्ट लोग लज्जाशील मनुष्य में मूढ़ता, व्रतों का पालन करने वाले में पाखण्ड, पवित्रात्मा में छल-कपट, शूरवीर में निर्दयता, मुनि में बुद्धिहीनता, मधुरभाषी में दीनता, तेजस्वी मनुष्य में घमण्ड, अच्छे वक्ता में वाचालता तथा शान्त व्यक्ति में असमर्थता मानते हैं। इस प्रकार गुणवान् लोगों का ऐसा कौन सा गुण है जो दुष्ट लोगों के द्वारा दूषित या दोषयुक्त नहीं माना जाता?

व्याख्या–दुष्ट लोग कभी सज्जनों की प्रशंसा सहन नहीं कर सकते, अत: वे उनके गुणों को गुणों के रूप में नहीं अपितु दोषों के रूप में ही स्वीकार करते हैं। दुष्ट लोगों के ईर्ष्यालु स्वभाव का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं कि दुर्जन गुणवानों के लज्जाशील गुण को जड़ता के रूप में, व्रती-तपस्वी को पाखण्डी के रूप में, वक्ता को वाचाल के रूप में तथा स्थिरमति मनुष्य को असमर्थ कहकर उसकी निन्दा करते हैं, उनके सब गुणों को दोषों के रूप में ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे किसी की प्रशंसा सहन कर ही नही सकते। दुर्जन सज्जनों के गुणों को भी दुर्गुण ही समझते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **स्वभावोक्ति** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–दुर्जना: सज्जनानां गुणान् दुर्गुणत्वेनैव स्वीकुर्वन्ति तद्यथा–सज्जनानां लज्जाशीलं जाड्म् इति, व्रतपालनम् आडम्बरम्, पवित्रता कपटत्वम्, वीर्यं निर्दयता, मननशीलता बुद्धिहीनता, मधुरभाषणं दीनता, तेजस्विता गर्वम्, वक्तृत्वं मुखरता, स्थैर्यम् दुर्बलता इति रूपेण गण्यन्ते तै:। एवं सज्जनानां सर्वेषु एव गुणेषु दुर्जनै: दोषारोपणं विधीयते।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

ह्रीमति=ह्री+मतुप् प्रत्यय।

जाड्यम्=जड+ष्यञ् प्रत्यय।

गण्यते=√गण्+कर्मणि यक्, आत्मनेपद, लट्, लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

व्रतरुचौ=व्रतेषु रुचि: यस्य स:, तस्मिन् ; बहुव्रीहि समास।

निर्घृणता=निर्गता घृणा यस्मात् तस्य भाव: ; बहुव्रीहि समास।

विमतिता=विगता मति: यस्य, तस्य भाव: ; बहुव्रीहि समास।

प्रियालापिनि=प्रियम् आलपितुं शीलं यस्य स: ; तस्मिन्, बहुव्रीहि समास।

तेजस्विनि=तेजस्+विनि प्रत्यय।

अवलिप्तता=अव उपसर्ग √लिप्+क्त्+प्रत्यय+तल् प्रत्यय+टाप् प्रत्यय।

वक्तरि=√वच् +तृच प्रत्यय।

अशक्ति:=न शक्ति:, नञ् तत्पुरुष समास।

भवेत्=√भू+विधिलिङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद–

तेजस्विन्यवलिप्तता=तेजस्विनि+अवलिप्तता।

वक्तर्यशक्ति:=वक्तरि+अशक्ति:।

को नाम= क:+नाम।

गुणो भवेत्=गुण:+भवेत्।

यो दुर्जनैर्नाङ्कित:=य:+दुर्जनै:+न+अङ्कित:।

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्।
सौजन्यं यदि किं गुणैः सुमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना।। 53।।

अन्वय:–लोभ: अस्ति चेत् अगुणेन किम्? पिशुनता यदि अस्ति पातकै: किम्? सत्यम् अस्ति चेत् तपसा किम्? मन: शुचि यदि अस्ति तीर्थेन किम्? सौजन्यं यदि अस्ति गुणै: किम्? सुमहिमा यदि अस्ति मण्डनै: किम्? सद्विद्या यदि अस्ति धनै: किम्? अपयश: यदि अस्ति तर्हि मृत्युना किम्?

प्रसंग–'लोभ आदि दुर्गुणों से जीवन निन्दनीय तथा सत्यभाषण आदि गुणों से जीवन प्रशंसनीय होता है'–यही उपदेश देते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[लोभ:] तृष्णा। [चेत्] यदि है। [अगुणेन] (अन्य) दुर्गुण से (की)। [किम्] क्या आवश्यकता? [यदि पिशुनता] यदि चुगलखोरी। [अस्ति] है। [पातकै: किम्] पापों से क्या? [च सत्यम्] और सत्य। [चेत्] यदि है। [तपसा किम्] तपश्चर्या से क्या? [यदि मन:] यदि मन। [शुचि: अस्ति] पवित्र है। [तीर्थेन किम्] तीर्थयात्रा से क्या? [यदि सौजन्यम्] यदि सज्जनता है। [किम्] गुणों से क्या? [यदि सुमहिमा अस्ति] यदि बड़प्पन है। [मण्डनै: किम्] आभूषणों से क्या। [यदि सद्विद्या अस्ति] यदि श्रेष्ठ विद्या है। [धनै: किम्] धनों से क्या? [यदि अपयश: अस्ति] यदि अपकीर्ति है। [मृत्युना किम्] मृत्यु से क्या? (अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं)।

सरलार्थ–यदि मनुष्य में (धन की) तृष्णा जैसा दुर्गुण है तो अन्य दुर्गुणों की कोई आवश्यकता नहीं। यदि उसमें चुगलखोरी है तो उसे पापों से क्या प्रयोजन? यदि सत्यभाषण का गुण है तो तपस्या करने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि मनुष्य का मन पवित्र है तो तीर्थों पर जाने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि मन में सज्जनता है तो गुणों का क्या प्रयोजन? यदि मनुष्य में बड़प्पन है तो उसे आभूषणों की कोई आवश्यकता नही। यदि मनुष्य ने श्रेष्ठ विद्या प्राप्त कर ली है तो उसे धन से कोई प्रयोजन नहीं लेकिन यदि किसी कारण मनुष्य का अपयश फैल जाए तो उसे मृत्यु से कोई प्रयोजन नहीं अर्थात् अपयश मृत्यु के समान है।

व्याख्या–मनुष्य को दुर्गुणों को त्यागने तथा सद्गुणों को ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिए–तभी उसका जीवन सार्थक है–बहुत सुन्दर रूप से व्याख्या की गई है इस भाव की यहाँ।

मनुष्य में लोभ का दुर्गुण आ जाने से अन्य दुर्गुण स्वत: आ जाते हैं। अपने लोभ को सन्तुष्ट करने के लिए वह कुछ भी दुष्कर्म करने को उद्यत हो जाता है। चुगलखोरी बहुत बड़ा पाप कहा गया है। सत्य-भाषण बहुत बड़ा गुण है जिसका पालन करते हुए तपश्चर्या की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती। यदि मनुष्य का मन पवित्र है तो तीर्थों पर जाकर मन की शुद्धि की कोई आवश्यकता नहीं रहती। सज्जनता बहुत बड़ा गुण है जिसके रहते हुए मनुष्य को अन्य गुणों की कोई आवश्यकता नहीं। महिमा या यश मनुष्य का सच्चा आभूषण है। यशस्वी मनुष्य को आभूषण धारण करने की कोई आवश्यकता नही। वह बिना बाह्य आभूषणों के भी सुन्दर तथा प्रशंसा का पात्र होता है। श्रेष्ठ विद्यायुक्त मनुष्य को धन अर्जित करने की कोई चिन्ता नहीं रहती। उत्तम विद्यायुक्त विद्वान् के पास धन की कमी नहीं हो सकती। अपकीर्ति मृत्यु से भी बढ़कर दु:खदायक मानी जाती है। यदि किसी कारण मनुष्य को अपयश प्राप्त हो जाए तो उसका जीवित रहना व्यर्थ है। अपयश प्राप्त मनुष्य को जीवित रहने से कोई लाभ नहीं, वह जीवित रहता हुआ भी मृत के समान है।

इस प्रकार तृष्णा, चुगलखोरी आदि बहुत बड़े दुर्गुण हैं जिनसे बचकर रहना प्रशंसनीय है तथा सत्यभाषण, मन की पवित्रता, सज्जनता, उत्तम विद्या आदि सद्गुणों का उपार्जन करना मानवमात्र का कर्तव्य है–इन्हीं गुणों से मानवजीवन की सार्थकता है। अपयश साक्षात् मृत्यु है और यश सबसे बड़ा आभूषण है, यही मनुष्य का सच्चा जीवन है।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **प्रतीप** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–लोभ: मनुष्यस्य शरीरे विद्यमान: महान् दुर्गुण: भवति, पिशुनता महापातक: वर्तते, सत्यं महत् तप: उच्यते, शुद्धं मन: तीर्थमेव कथ्यते, सुजन: गुणवान् भवति, यश: बहुमूल्यम् आभूषणम्, सद्विद्या महद् धनम्, किन्तु अपयश: साक्षात् मृत्युरेव मन्यते नात्र सन्देहावसर:।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

अगुणेन=न गुण:, तेन ; नञ् तत्पुरुष समास।

अस्ति=√अस्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

पिशुनता=पिशुन+तल् प्रत्यय+टाप् प्रत्यय।

सद्विद्या=सती विद्या ; कर्मधारय समास।

अपयश:=अपगतं यश: ; अव्ययीभाव समास।

सन्धिविच्छेद

लोभश्चेदगुणेन=लोभ:+चेत्+अगुणेन।

यद्यस्ति=यदि+अस्ति।

सद्विद्या=सत्+विद्या।

धनैरपयशो=धनै:+अपयश:।

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृते:।
प्रभुर्धनपरायण: सततदुर्गत: सज्जनो
नृपाङ्गणगत: खलो मनसि सप्त शल्यानि मे।। 54।।

अन्वय:-दिवसधूसर: शशी, गलितयौवना कामिनी, विगतवारिजं सर:, स्वाकृते: अनक्षरम् मुखम्, धनपरायण: प्रभु:, सततदुर्गत: सज्जन:, नृपाङ्गणगत: खल: इति सप्त मे मनसि शल्यानि सन्ति।

प्रसंग-कष्ट उत्पन्न करने वाले सात विषयों का निर्देश करते हुए कवि कहते हैं-

शब्दार्थ-[दिवसधूसर:] दिन में मलिन। [शशी] चन्द्रमा। [गलितयौवना] यौवनहीना। [कामिनी] स्त्री। [विगतवारिजम्] कमलहीन। [सर:] सरोवर। [स्वाकृते:] सुन्दर स्वरूप वाले मनुष्य का। [अनक्षरम्] विद्यारहित। [मुखम्] मुख। [धनपरायण:] धन का लोभी। [प्रभु:] स्वामी। [सततदुर्गत:] सदा दुर्दशा में पड़ा हुआ। [सज्जन:] सज्जन [नृपाङ्गणगत:] राजा की सभा में पहुंचा हुआ। [खल:] दुष्ट पुरुष। [एतानि] ये। [सप्त] सात। [मे] मेरे। [मनसि] मन में। [शल्यानि] कांटे के समान कष्ट पहुंचाने वाले हैं।

सरलार्थ-दिन में कान्तिविहीन चन्द्रमा, यौवनहीना स्त्री, कमलहीन सरोवर, सुन्दर स्वरूप वाले मनुष्य का विद्याविहीन मुख, धन का लोभी स्वामी, सदा दुर्दशाग्रस्त सज्जन तथा राजा की सभा में पहुंचा हुआ दुष्ट पुरुष-ये सात मेरे हृदय को कष्ट देते रहते हैं।

व्याख्या-ये सात कवि को अत्यंत कष्टदायक प्रतीत होते हैं क्योंकि जो गुण विशेष किसी को महत्वपूर्ण बनाता है यदि वह गुण ही उसमें न रहे तो उसके अस्तित्व का कोई लाभ नहीं, जैसे-चन्द्रमा की शोभा उसकी कान्ति से है जो रात्रि में ही आकर्षित करती है,

दिन में वह कान्तिविहीन हो जाता है। अतः उसके अस्तित्व का कोई महत्व ही नहीं रहता। इसी प्रकार यौवन ही स्त्री का आकर्षण है, यौवनविहीना स्त्री आकर्षण का कारण नहीं रहती। कमल से ही सरोवर की सुन्दरता होती है। सौन्दर्यसम्पन्न होता हुआ भी मनुष्य यदि विद्याविहीन है तो उसका क्या महत्व? यदि स्वामी धन का आवश्यकतानुसार व्यय या दान आदि नहीं करता तो वह किसी की प्रशंसा का पात्र हो ही नहीं सकता। यदि सज्जन आपत्तियों से घिरा रहे तो यह भी अत्यंत कष्टदायक बात है और इसी प्रकार राजसभा में पहुंच कर दुष्ट व्यक्ति अवश्य ही अनेक परेशानियों को भी उत्पन्न करने वाला होता है। इस प्रकार ये सात दोष निस्संदेह मन में कष्ट उत्पन्न करने वाले होते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में **पृथ्वी** छन्द तथा **समुच्चय** और **दीपक** अलंकार हैं।

संस्कृत-भावार्थः–दिवसे तेजोविहीनः चन्द्रमा, नष्टयौवना कामिनी, कमलविहीनं सरः, सुन्दरमनुष्यस्य विद्यारहितं मुखं, धनलोलुपः राजा, दारिद्र्यमापन्नः सज्जनः, राजसभां सम्प्राप्तः दुष्टः–एतानि सप्तवस्तूनि मम हृदये कष्टमुत्पादयन्ति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

दिवसधूसरः=दिवसे धूसरः ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

गलितयौवना=गलितं यौवनं यस्याः सा ; बहुव्रीहि समास।

विगतवारिजम्=विगतानि वारिजानि यस्मात् तत् बहुव्रीहि समास।

अनक्षरम्=न सन्ति अक्षराणि यस्मिन् तत् बहुव्रीहि समास।

स्वाकृतेः=सुष्ठु आकृतिः यस्य, तस्य ; बहुव्रीहि समास।

धनपरायणः=धने परायणः ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

सततदुर्गतः=सततं दुर्गतिः यस्य सः ; बहुव्रीहि समास।

नृपांगणगतः=नृपस्य आंगणं गतः ; षष्ठी एवं द्वितीया तत्पुरुष समास।

सन्धि-विच्छेद

दिवसधूसरो गलितयौवना=दिवसधूसरः+गलितयौवना।

सरो विगतवारिजम्=सरः+विगतवारिजम्।

प्रभुर्धनपरायणः=प्रभुः+धनपरायणः।

सज्जनो नृपाङ्गणगतः=सज्जनः+नृपाङ्गणगतः।

खलो मनसि=खलः+मनसि।

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम्।
होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः।। 55।।

अन्वयः–चण्डकोपानाम् भूभुजाम् कश्चित् अपि न आत्मीयः नाम। जुह्वानम् होतारम् अपि पावकः स्पृष्टः सन् दहति।

प्रसंग–'क्रोधी राजा का कोई भी व्यक्ति अपना नहीं होता'–इस विषय का निरूपण करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ-[चण्डकोपानाम्] भयंकर क्रोध वालों का। [भूभुजाम्] राजाओं का। [कश्चित् अपि] कोई भी। [न] नहीं। [आत्मीयः नाम] अपना होता। [स्पृष्टः] स्पर्श किए जाने पर। [पावकः] अग्नि। [जुह्वानम्] हवन करने वाले को। [होतारम् अपि] यजमान को भी। [दहति] जला देती है।

सरलार्थ-अत्यन्त क्रोधी राजाओं का कोई भी व्यक्ति अपना नहीं होता जिस प्रकार स्पर्श की गई अग्नि हवनकर्ता यजमान को ही जला देती है।

व्याख्या-अग्नि का स्वभाव जलाना है, वह किसी में भेद न समझकर हाथ से छू जाने पर आहुति देने वाले ऋत्विक को ही जला देती है, उसी प्रकार भयंकर क्रोधी स्वभाव वाले राजा किसी को अपना नहीं समझते। अपने प्रभुत्व के अहंकार के कारण वे सज्जन का भी सम्मान नहीं करते। अतः ऐसे राजाओं से घनिष्ठता रखना व्यर्थ है।

प्रस्तुत श्लोक में **अनुष्टुप्** छन्द तथा **दृष्टान्त** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः-अत्यन्तक्रोधिनां राज्ञां कोऽपि जनः आत्मीयः न भवति यथा स्पृष्टः अग्निः यज्ञं कुर्वाणं यजमानमपि दहति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

चण्डकोपानाम्=चण्डः कोपः येषां ते, तेषाम् ; बहुव्रीहि समास।

होतारम्=√हु+तृच् प्रत्यय।

जुह्वानम्=√हु+शानच् प्रत्यय।

स्पृष्टः=√स्पृश्+क्त प्रत्यय।

दहति=√दह्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा
धृष्टः पार्श्वे वसति च सदा दूरतश्चाप्रगल्भः।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः॥ 56॥

अन्वयः-मौनात् मूकः, प्रवचनपटुः वातुलः जल्पकः वा, सदा पार्श्वे च वसति तर्हि धृष्टः (भवति) दूरतः च अप्रगल्भः, क्षान्त्या भीरुः, यदि न सहते प्रायशः अभिजातः न (भवति) परमगहनः सेवाधर्मः योगिनाम् अपि अगम्यः अस्ति।

प्रसंग-'सेवा का धर्म सबसे अधिक कठिन होता है'-इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं-

शब्दार्थ-[मौनात्] मौन रहने से। [मूकः] गूंगा। [प्रवचनपटुः] बोलने में चतुर होने पर। [वातुलः] बहुभाषी। [जल्पकः] वाचाल। [वा] अथवा। [सदा] हर समय। [पार्श्वे] पास में। [वसति] रहता है। [धृष्टः] ढीठ। [च] और। [दूरतः] दूर। [अप्रगल्भः] कम

बुद्धि वाला। [क्षान्त्या] सहनशीलता से। [भीरु:] डरपोक। [यदि] यदि। [न सहते] सहन नहीं करता। [प्रायश:] प्राय:। [न अभिजात:] उच्चकुल में उत्पन्न हुआ नहीं माना जाता है। [परमगहन:] अत्यंत गूढ़। [सेवाधर्म:] सेवा का धर्म। [योगिनाम्] योगिजनों के लिए। [अपि] भी। [अगम्य:] न जानने योग्य है।

सरलार्थ-सेवक मौन रहने से गूंगा, बोलने में निपुण होने से बहुत बोलने वाला या बकवक करने वाला, यदि पास में रहता है तो ढीठ और दूर रहता है तो कम बुद्धि वाला तथा सहनशील हो तो कायर और यदि न सहन करे तो नीच कुल में उत्पन्न माना जाता है। इस प्रकार सेवा का धर्म अत्यंत कठिन है जिसे योगी महात्मा भी नहीं समझ सकते।

व्याख्या-सेवक अच्छे से अच्छा भी काम करे तो भी स्वामी उसके हर काम में दोषारोपण करते ही हैं-इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए आचार्य भर्तृहरि यहां कहते हैं कि यदि सेवक चुपचाप काम करे तो गूंगा कहलाता है, हाजिरजवाब हो तो बहुत बोलने वाला और बकबक करने वाला कहा जाता है। यदि वह पास में खड़ा रहे तो ढीठ और दूर रहने पर कम बुद्धि वाला कहलाता है। सहनशील होने पर कायर और सहनशील न होने पर नीच कुल में उत्पन्न तथा असभ्य कहा जाता है। इस प्रकार सेवा का काम अत्यंत कठिन है। सेवक के हर कार्य में ही दोष निकाला जाता है। सेवा का धर्म तो योगियों के लिए भी अत्यंत गूढ़ और दुर्बोध है फिर सामान्य लोगों की तो बात ही क्या?

प्रस्तुत श्लोक में **मन्दाक्रान्ता** छन्द तथा **अतिशयोक्ति** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:-यदि सेवक: मौनमाचरति तर्हि स: मूक: कथ्यते, यदि स: भाषणकुशल: तर्हि वाचाल:, जल्पक: वा मन्यते। यदि सदा समीपे तिष्ठति तर्हि अविनीत:, दूरे वसन् अप्रौढः उच्यते। सहनशील: चेत् भीरु:, यदि न सहते तर्हि अकुलीन: कथ्यते। एवं सेवाधर्म: अतीव गूढः वर्तते यं योगिन: अपि न जानन्ति।

व्याकरणात्मक टिप्पणी

प्रवचनपटु:=प्रवचने पटु: ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

वसति=√वस्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सहते=√सह्, लट् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन।

अप्रगल्भ:=न प्रगल्भ: ; नञ् तत्पुरुष समास।

परमगहन:=परम: गहन: ; कर्मधारय समास।

सेवाधर्म:=सेवा एव धर्म: ; कर्मधारय समास।

अगम्य:=न गम्य: ; नञ् तत्पुरुष समास।

सन्धि-विच्छेद

मौनान्मूक:=मौनात्+मूक:।

प्रवचनपटुर्वाचको जल्पको वा=प्रवचनपटु:+वाचक:+जल्पक:+वा।

दूरतश्चाप्रगल्भ:=दूरत:+च+अप्रगल्भ:।

भीरुर्यदि=भीरु:+यदि।

उद्भासिताखिलखलस्य विशृंखलस्य
प्रोद्गाढविस्मृतनिजाधमकर्मवृत्ते:।
दैवादवाप्तविभवस्य गुणद्विषोऽस्य
नीचस्य गोचरगतैः सुखमास्यते कैः।। 57।।

अन्वय:–उद्भासिताखिलस्य विशृङ्खलस्य प्रोद्गाढविस्मृतनिजाधमकर्मवृत्ते: दैवात् अवाप्तविभवस्य गुणद्विष: अस्य नीचस्य (जनस्य) गोचरगतैः कैः सुखम् आस्यते?

प्रसंग–'नीच पुरुष का दर्शन भी दु:खदायक होता है'–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

शब्दार्थ–[उद्भासिताखिलखलस्य] सम्पूर्ण दुष्ट जनों को प्रकाशित करने वाले। [विशृंखलस्य] स्वेच्छापूर्वक आचरण करने वाले। [प्रोद्गाढविस्मृतनिजाधमकर्मवृत्तेः] पहले की गई अधम कर्मवृत्ति को भूलने वाले। [दैवात्] भाग्यवश। [अवाप्तविभवस्य] धन प्राप्त किए हुए। [गुणद्विष:] गुणों से द्वेष रखने वाले। [अस्य नीचस्य] इस नीच पुरुष के। [गोचरगतै:] दृष्टिगोचर होने से। [कैः] किन लोगों के द्वारा। [सुखम् आप्यते] सुख प्राप्त किया जा सकता है?

सरलार्थ–सभी दुष्टों को प्रोत्साहित करने वाले, मर्यादा का पालन न करने वाले, पहले की गई नीचवृत्ति को भूलने वाले, भाग्यवश धन प्राप्त किए हुए तथा गुणों से द्वेष करने वाले नीच पुरुष की दृष्टि में आ जाने से कौन व्यक्ति सुखपूर्वक रह सकता है?

व्याख्या–ऐसे नीच पुरुष का दर्शन ही कष्टदायक होता है जो दुष्टों को प्रोत्साहित करता है, स्वेच्छापूर्वक आचरण करता है, पहले की गई नीच वृत्ति को भूल जाता है, दैववश प्राप्त किए हुए धन का अभिमानी तथा गुणों से द्वेष करने वाले नीच पुरुष की दृष्टि में आया हुआ कोई भी व्यक्ति सुख नहीं प्राप्त कर सकता अर्थात् ऐसे दुष्ट व्यक्ति के सम्पर्क में आने से कोई सुखी नहीं रह सकता। नीच पुरुष अपने नीच स्वभाव, नीच संस्कारों आदि को कभी नहीं छोड़ते तथा उनके आश्रय में आने वाला व्यक्ति उनके दुष्ट स्वभाव से अवश्य दु:खी होता है–इसमें संदेह नहीं।

प्रस्तुत श्लोक में **वसन्ततिलका** छन्द तथा **काव्यलिंग** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–दुर्जन: स्वभावत: एव नीचानाम् अग्रणी:, अनुशासनहीन:, नीचकर्मप्रेरक:, गुणद्वेषी, दैवात् प्राप्तैश्वर्यश्च भवति। स: सर्वेषां जनानां कष्टदायक: भवति। अत: दूरत: एव त्याज्य: ईदृश: नीचपुरुष:।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

उद्भासिताखिलखलस्य=उद्भासिता: अखिलखला: येन स:, तस्य ; बहुव्रीहि समास।

विशृंखलस्य=विगता शृंखला यस्य स:, तस्य बहुव्रीहि समास।

अवाप्तविभवस्य=अवाप्त: विभव: येन स:, तस्य ; बहुव्रीहिसमास।

गुणद्विष:=गुणान् द्वेष्टि इति, तस्य ; उपपदसमास।

गोचरगतै:=गोचरं गत:, तै: ; द्वितीया तत्पुरुष समास।

आप्यते=√आप्+कर्मणि यक्, आत्मनेपद, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धिविच्छेद-

दैवादवाप्तविभवस्य =दैवात्+अवाप्तविभवस्य।

गुणद्विषोऽस्य = गुणद्विष:+अस्य।

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण
लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना
छायेव मैत्री खलसज्जनानाम्।। 58।।

अन्वय:-दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छाया इव खलसज्जनानाम् मैत्री आरम्भगुर्वी क्रमेण क्षयिणी, पुरा लध्वी पश्चात् च वृद्धिमती।

प्रसंग-सज्जनों तथा दुर्जनों की मित्रता का वर्णन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं-

शब्दार्थ-[दिनस्य] दिन के। [पूर्वार्धपरार्धभिन्ना] पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध में भिन्न-भिन्न स्वरूप वाली। [छाया इव] परछाई या छाया की तरह। [खलसज्जनानाम्] दुष्टों और सज्जनों की। [मैत्री] मित्रता। [आरम्भगुर्वी] आरम्भ में बड़ी। [क्रमेण] क्रम से। [क्षयिणी] छोटी (कम) होने वाली। [च] और। [पुरा] पहले। [लघ्वी] छोटी। [पश्चात् च] और बाद में। [वृद्धिमती] बढ़ने वाली होती है।

सरलार्थ-दिन के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध में भिन्न-भिन्न स्वरूप वाली छाया की तरह दुष्टों तथा सज्जनों की मित्रता क्रमश: आरम्भ में बड़ी तथा क्रम से छोटी होने वाली और पहले छोटी बाद में बढ़ने वाली होती है।

व्याख्या-कवि यहां दुष्टों और सज्जनों की मित्रता के स्वरूप की तुलना प्रात: काल, मध्याह्न और सायंकाल में पड़ने वाली छाया के साथ करते हुए कहता है कि दुष्टों की मित्रता दिन के पूर्वार्ध भाग (प्रात:काल) में पड़ने वाली छाया की तरह पहले बड़ी अर्थात् शुरू में ही गहरी हो जाती है और जैसे छाया मध्याह्न में छोटी होती जाती है ऐसे ही उनकी मित्रता धीरे-धीरे कम होती जाती है। इसके विपरीत मध्याह्न में पड़ने वाली छाया पहले कम या

छोटी होती है और धीरे-धीरे सायंकाल तक वह अत्यंत बड़ी हो जाती है, इसी प्रकार सज्जनों की मित्रता पहले कम होती है और उनके गुणों से परिचित होकर उनके साथ की गई मित्रता क्रमश: गहरी होती जाती है। दुष्ट लोग दूसरों के साथ गुण-दुर्गुणों की परवाह किए बिना एकदम गहरी मित्रता कर लेते हैं। दूसरे लोग उनके दुर्गुणों से परिचित होकर उनके साथ मित्रता कम कर देते हैं या भंग कर देते हैं। इसके विपरीत सज्जन पहले सोच-समझ कर दूसरों के साथ मित्रता हल्की रखते हैं। उनके गुणों से परिचित होकर धीरे-धीरे मित्रता गहरी करते हैं-यही दुर्जन और सज्जन की मित्रता में अन्तर होता है।

प्रस्तुत श्लोक में उपजाति छन्द तथा यथासंख्य और उपमा अलंकार हैं।

संस्कृत-भावार्थ:-यथा दिवसस्य पूर्वार्धे छाया दीर्घा भवति क्रमेण च क्षीयते, तथैव दुष्टानां मैत्री प्रारम्भे महती भवति, पश्चात् च क्रमेण लघ्वी जायते ; यथा च मध्याह्नकाले छाया लघ्वी भवति क्रमेण च वर्धते तथैव सज्जनानां मैत्री आरम्भे लघ्वी भवति कालक्रमेण च वर्धते।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

आरम्भगुर्वी=आरम्भे गुर्वी ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

पूर्वार्धपरार्धभिन्ना=पूर्वार्धम् च परार्धम् च, तयो: द्वन्द्व समास। पूर्वार्धपरार्धयो: भिन्ना ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

खलसज्जनानाम्=खला: च सज्जना: च, तेषाम् ; द्वन्द्व समास।

वृद्धिमती=वृद्धि: अस्ति यस्या: सा ; बहुव्रीहि समास।

सन्धिविच्छेद

छायेव = छाया+इव।

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम्।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति।। 59।।

अन्वय:-तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम् मृगमीनसज्जनानां लुब्धकधीवरपिशुना: जगति निष्कारणम् एव वैरिण:।

प्रसंग-'दुर्जन स्वभाव से ही सज्जनों के शत्रु होते हैं'-इस विषय का प्रतिपादन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं-

शब्दार्थ-[तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम्] घास, पानी और संतोष से आजीविका चलाने वालों के। [मृगमीनसज्जनानाम्] हिरण, मछली और सज्जनों के। [लुब्धकधीवरपिशुना:] व्याध, मछली पकड़ने वाले तथा दुष्ट (चुगलखोर)। [जगति] संसार में। [निष्कारणम् एव] अकारण ही। [वैरिण:] शत्रु होते हैं।

सरलार्थ–घास-फूस, जल तथा संतोष-भावना के साथ अपना जीवन-यापन करने वाले हिरण, मछली तथा सज्जनों के शिकारी, धीवर तथा दुष्ट लोग बिना किसी कारण के ही शत्रु बन जाते हैं।

व्याख्या–सज्जनों को कष्ट पहुंचाना दुष्टों का स्वभाव होता है–इस भाव को स्पष्ट करते हुए कवि कहते हैं–हिरण आदि पशु, मछली तथा सज्जन केवल घास-फूस, जल तथा संतोष-स्वभाव से जीवन-यापन करते है, फिर भी शिकारी, मछियारे और चुगलखोर जैसे दुष्ट लोग बिना किसी कारण के भी उनके साथ शत्रुता रखते हैं तथा उनके जीवन को कष्टमय बनाते हैं। शिकारी तथा मछियारे, पशु-पक्षी और मछली को अपना आहार बनाने के लिए अकारण ही उनकी हिंसा करते हैं, इसी प्रकार दुर्जन भी बिना कारण के ही सज्जनों को कष्ट पहुंचाते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में **आर्या** छन्द तथा **यथासंख्य** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–अस्मिन् संसारे व्याधाः, धीवराः, दुष्टाः च क्रमेण तृणेन, जलेन, सन्तोषेण च निर्वाहं कुर्वतः पशून्, मीनान्, सज्जनान् च द्विषन्ति नात्र सन्देहः।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम्=तृणैः, जलेन, सन्तोषेण च विहिता वृत्तिः यैः, तेषाम् ; बहुव्रीहि समास।

मृगमीनसज्जनानाम्=मृगाः च मीनाः च सज्जनाः च, तेषाम् ; द्वन्द्व समास।

लुब्धकधीवरपिशुनाः=लुब्धकाः च धीवराः च पिशुनाः च, द्वन्द्वसमास।

सन्धि-विच्छेद–

निष्कारणवैरिणो जगति=निष्कारणवैरिणः+जगति।

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम्।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले
येष्वेते वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः।।60।।

अन्वयः–सज्जनसंगमे वाञ्छा, परगुणे प्रीतिः, गुरौ नम्रता, विद्यायां व्यसनम्, स्वयोषिति रतिः, लोकापवादात् भयम्, शूलिनि भक्तिः, आत्मदमने शक्तिः, खले संसर्गमुक्तिः एते निर्मलगुणाः येषु वसन्ति तेभ्यः नरेभ्यः नमः।

प्रसंग–सज्जनों के गुणों की प्रशंसा करके उनको प्रणाम करता हुआ कवि कहता है–

शब्दार्थ–[सज्जनसंगमे] सज्जनों की संगति में। [वाञ्छा] इच्छा रखना। [परगुणे] दूसरों के गुणों में। [प्रीतिः] रुचि। [गुरौ] पूज्य जनों में। [नम्रता] विनम्रता रखना।

[विद्यायाम्] विद्या में। [व्यसनम्] आसक्ति। [स्वयोषिति] अपनी पत्नी में। [रतिः] प्रेम। [लोकापवादात्] लोक निन्दा से। [भयम्] डर। [शूलिनि] शिवजी में। [भक्तिः] श्रद्धाभाव। [आत्मदमने] इन्द्रियों को वश में करने में। [शक्तिः] सामर्थ्य। [खले] दुर्जन में। [संसर्गमुक्तिः] सम्बन्ध का त्याग। [येषु] जिनमें। [निवसन्ति] रहते हैं। (विद्यमान होते हैं)। [तेभ्यः नरेभ्यः] उन मनुष्यों को। [नमः] नमस्कार है।

सरलार्थ–सज्जनों की संगति में इच्छा रखना, दूसरों के गुणों में रुचि रखना, पूज्य जनों के प्रति विनम्रता, विद्या-प्राप्त करने में आसक्ति रखना, अपनी पत्नी के प्रति प्रेम-भावना, लोकनिन्दा से भय रखना, भगवान् शिवजी में श्रद्धा-भाव, इन्द्रियों को वश में रखने की सामर्थ्य तथा दुष्टों से सम्बन्ध न रखना–ये पवित्रगुण जिन सज्जनों में हैं उन महापुरुषों को मेरा प्रणाम।

व्याख्या–प्रस्तुत श्लोक में वर्णित गुण निस्संदेह दुर्लभ गुण हैं जो बहुत कम लोगों में ही पाए जाते हैं। अतः इन गुणों से युक्त महापुरुषों के प्रति अपनी श्रद्धा एवं आदर की भावना प्रकट करते हुए कवि कहता है कि सज्जनों से मित्रता करने की इच्छा रखने वाले, दूसरों के गुणों को देखने वाले तथा अवगुणों पर ध्यान न देने वाले, पूज्य जनों के साथ विनम्रतापूर्ण आचरण करने वाले, विद्या प्राप्ति में ही प्रयत्नशील रहने वाले, अपनी पत्नी से ही प्रेम करने वाले, लोकनिन्दा से भय अनुभव करने वाले, भगवान् शंकर में आसक्ति रखने वाले, अपने चित्त और इन्द्रियों को वश में रखने वाले तथा दुष्टों से दूर रहने वाले सज्जनों को मेरा प्रणाम हो। ऐसे महापुरुष निस्संदेह सभी के लिए आदरणीय होते हैं तथा सभी को उनके गुणों को धारण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा उदात्त अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–ये महानुभावाः साधुसमागमं वाञ्छन्ति, परगुणेषु प्रीतिं कुर्वन्ति, पूज्यजनान् प्रति विनयशीलाः भवन्ति, विद्याशास्त्राभ्यासं कुर्वन्ति, स्वभार्यायां स्निह्यन्ति, लोकनिन्दायाः बिभ्यति, शिवं भजन्ते, इन्द्रियाणि वशीकुर्वन्ति, खलसम्पर्कात् च दूरे तिष्ठन्ति-ते सज्जनाः वन्दनीयाः सन्ति, तेषाम् चरितं सर्वैः एव अनुकरणीयम्।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

सज्जनसंगमे=सज्जनानाम् संगमः, तस्मिन् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

परगुणे=परेषाम् गुणः, तस्मिन् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

लोकापवादात्=लोकानाम् अपवादात् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

आत्मदमने=आत्मनः दमनम्, तस्मिन्, षष्ठी तत्पुरुष समास।

संसर्गमुक्तिः=संसर्गात् मुक्तिः, पञ्चमी तत्पुरुष समास।

निर्मलगुणाः=निर्मलाः गुणाः ; कर्मधारय समास।

स्वयोषिति=स्वस्य योषित्, तस्याम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

सन्धिविच्छेद

प्रीतिर्गुरौ=प्रीति:+गुरौ।

रतिर्लोकापवादाद्भयम्=रति:+लोकापवादात्+भयम्।

शक्तिरात्मदमने=शक्ति:+आत्मदमने।

येष्वेते=येषु+एते।

निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नम:=निर्मलगुणा:+तेभ्य:+नरेभ्य:+नम:।

छात्र ध्यान दें–यहां '**नम:**' के योग में '**नरेभ्य:**' में चतुर्थी विभक्ति लगी है।

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रम:।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्।। 61।।

अन्वय:–विपदि धैर्यम्, अथ अभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्पटुता, युधि विक्रम:; यशसि अभिरुचि:, श्रुतौ च व्यसनम्, इदं हि महात्मनाम् प्रकृतिसिद्धम्।

प्रसंग–महापुरुषों के स्वाभाविक गुणों का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[विपदि] विपत्ति में। [धैर्यम्] धैर्य रखना। [अथ] और। [अभ्युदये] उन्नति में। [क्षमा] सहनशीलता। [सदसि] सभा में। [वाक्पटुता] वाणी की निपुणता। [युधि] युद्ध में। [विक्रम:] पराक्रम दिखाना। [यशसि] यश में। [अभिरुचि:] रुचि रखना। [श्रुतौ च] और वेदशास्त्र में। [व्यसनम्] आसक्ति। [इदम् हि] निश्चित रूप से यह। [महात्मनाम्] महापुरुषों के। [प्रकृतिसिद्धम्] स्वभाव से सिद्ध (गुण) हैं।

सरलार्थ–विपत्ति में धैर्य रखना, उन्नतिशील स्थिति में लोगों पर दया दिखाना, सभा में चतुराई से बोलना, युद्ध में वीरता दिखाना, यश में रुचि रखना तथा वेदशास्त्र में अनुराग रखना–महापुरुषों में ये सब गुण स्वाभाविक रूप से ही विद्यमान होते हैं।

व्याख्या–विपत्ति आ जाने पर भी विचलित न होना तथा धैर्य न खोना, उन्नत अवस्था में दयालु तथा क्षमाशील रहना, सभा में वाणी की निपुणता दिखाना, युद्ध में पराक्रम दिखाना, यश में और वेदशास्त्रों के अध्ययन में आसक्ति रखना–ये सब महात्माओं के स्वाभाविक गुण हैं। ये गुण उनमें जन्मजात होते हैं, किसी को सिखाने की आवश्यकता नहीं होती।

प्रस्तुत श्लोक में **द्रुतविलम्बित** छन्द तथा **अर्थान्तरन्यास** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–आपत्काले धैर्यम्, उन्नतौ क्षमाशीलता, सभायां वाक्चातुर्यम्, युद्धे शौर्यम्, यशसि लालसा, वेदशास्त्रेषु चानुराग:–एते सज्जनानां सहजा: गुणा: सन्ति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

वाक्पटुता=वाचः पटुता ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

प्रकृतिसिद्धम्=प्रकृत्या सिद्धम्, तृतीया तत्पुरुष समास।

महात्मनाम्=महान् आत्मा येषाम् ते, तेषाम् ; बहुव्रीहि समास।

सन्धि-विच्छेद

चाभिरुचिर्व्यसनम् = च+अभिरुचिः+व्यसनम्।

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते सम्भ्रमविधिः
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः।
अनुत्सेको लक्ष्म्यामनभिभवगन्धाः परकथाः
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम्।। 62।।

अन्वयः–प्रच्छन्नम् प्रदानम् गृहम् उपगते संभ्रमविधिः प्रियं कृत्वा मौनम् सदसि उपकृतेः अपि कथनम् लक्ष्म्याम् अनुत्सेकः परकथाः अनभिभवगन्धाः इदम् विषमम् असिधाराव्रतम् सताम् केन उद्दिष्टम्।

प्रसंग–सज्जनों के स्वभाव का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[प्रदानम्] धन का दान करना। [प्रच्छन्नम्] गुप्त रूप से। [गृहम्] घर को। [उपगते] आए हुए। (अतिथि) का। [सम्भ्रमविधिः] सत्कार करना। [प्रियं कृत्वा] प्रिय या भलाई करके। [मौनम्] चुप रहना। [अपि च] इसके अतिरिक्त। [सदसि] सभा में। [उपकृतेः] उपकार को। [कथनम्] कहना। [लक्ष्म्याम्] धन-सम्पत्ति होते हुए भी। [अनुत्सेकः] अहंकारहीनता। [परकथाः] दूसरों की बात पर। [अनभिभवगन्धाः] दोषारोपण न करना। [इदम्] यह। [विषमम्] कठोर। [असिधाराव्रतम्] तलवार की धार पर चलने के समान व्रत। [सताम्] सज्जनों को। [केन] किसके द्वारा। [उद्दिष्टम्] उपदेश दिया गया।

सरलार्थ–गुप्त दान देना, घर आए अतिथियों का सत्कार करना, दूसरों की भलाई करके चुप रहना, दूसरे के उपकार को सभा में बताना (कहना), धन सम्पन्न होते हुए भी अहंकार न करना तथा दूसरों के बोलते हुए किसी प्रकार का दोषारोपण न करना–तलवार की धार पर चलने के समान यह कठिन व्रत सज्जनों को किसने उपदेश दिया? अर्थात् किसी ने नहीं।

व्याख्या–सज्जन आवश्यकता के समय उचित पात्रों को गुप्त रूप से खूब दान देते हैं अर्थात् वे दान देकर उसकी चर्चा किसी से भी नहीं करते, घर आए अतिथियों का आदर सत्कार करते हैं, दूसरों का हित करके भी किसी से कहते नहीं है किन्तु दूसरों के द्वारा किए गए उपकार की वे सभा में खूब चर्चा करते हैं। धन-सम्पन्न होते हुए भी अहंकार हीन रहते

हैं तथा औरों के बोलते समय कभी दोष नहीं निकालते, उनका अपमान नहीं करते। इन नियमों का पालन करना तलवार की धार पर चलने के समान अत्यंत कठिन है और सज्जन इन नियमों का प्राणों की परवाह किए बिना भी पालन करते हैं और बिना किसी के द्वारा सिखाए जाने पर भी अर्थात् स्वभाव से ही वे इन क़ठोर नियमों का पालन करते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में **शिखरिणी** छन्द तथा **समुच्चय** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:—सज्जना: गुप्तदानं कुर्वन्ति, गृहागतानाम् अतिथीनां सत्कारं कुर्वन्ति, स्वकृतम् उपकारं न विज्ञापयन्ति किन्तु परकृतमुपकारं तु सभायां भूयो भूय: प्रदर्शयन्ति, सम्पन्ना अपि ते गर्वहीना: भवन्ति, परनिन्दां च न कदापि विदधति एते दुर्लभा: गुणा: सज्जनेषु स्वभावत: एव विद्यन्ते।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

प्रदानम्=प्र उपसर्ग √दा+ल्युट् प्रत्यय।

प्रच्छन्नम्=प्र उपसर्ग √छद्+क्त, प्रत्यय।

उपगते=उप उपसर्ग √गम्+क्त, प्रत्यय।

सम्भ्रमविधि:=सम्भ्रमस्य विधि: ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

कृत्वा=√कृ+क्त्वा प्रत्यय।

कथनम्=√कथ्+ल्युट् प्रत्यय।

उपकृते:=उप उपसर्ग √कृ+क्तिन् प्रत्यय।

अनभिभवगन्धा:=अभिभवस्य गन्ध: अभिभवगन्ध:; नास्ति अभिभवगन्ध: येषु ते ; बहुव्रीहि समास।

परकथा:=परेषां कथा: ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

उद्दिष्टम्=उत् उपसर्ग √दिश्+क्त प्रत्यय।

असिधाराव्रतम्=असिधारा इव कठिनं व्रतम् ; कर्मधारय समास।

सन्धिविच्छेद

चाप्युपकृते:=च+अपि+उपकृते:।

अनुत्सेको लक्ष्म्याम्=अनुत्सेक:+लक्ष्म्याम्।

केनोद्दिष्टम्=केन+उद्दिष्टम्।

करे श्लाघ्यस्त्याग: शिरसि गुरुपादप्रणयिता
मुखे सत्या वाणी विजयि भुजयोर्वीर्यमतुलम्।
हृदि स्वच्छा वृत्ति: श्रुतमधिगतं च श्रवणयो-
र्विनाऽप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम्।। 63।।

अन्वय:–करे श्लाघ्य: त्याग:, शिरसि गुरुपादप्रणयिता, मुखे सत्या वाणी, भुजयो: विजयि अतुलं वीर्यम्, हृदि स्वच्छा वृत्ति:, श्रवणयो: च अधिगतं श्रुतम्, इदम्, ऐश्वर्येण विना अपि प्रकृतिमहताम् मण्डनम् (अस्ति)।

प्रसंग–'सद्गुण ही सज्जनों के आभूषण हैं, धन ऐश्वर्य नहीं' .....इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि भर्तृहरि कहते हैं–

शब्दार्थ–[करे] हाथ में। [श्लाध्य:] प्रशंसनीय। [त्याग:] दान। [शिरसि] सिर पर। [गुरुपादप्रणयिता] गुरुजनों के चरणों में किया गया स्नेह। [मुखे] मुख में। [विजयी] विजयशील। [अतुलम्] अतुलनीय [वीर्यम्] बल। [हृदि] हृदय में। [स्वेच्छा वृत्ति:] पवित्र भाव। [श्रवणयो: च] और दोनों कानों में। [अधिगतम् श्रुतम्] शास्त्रज्ञान। [इदम्] यह। [ऐश्वर्येण विना] धन-ऐश्वर्य के बिना। [अपि] भी। [प्रकृतिमहताम्] स्वभाव से महापुरुषों का। [मण्डनम्] आभूषण है।

सरलार्थ–हाथ में प्रशंसनीय दान देने का गुण, सिर पर गुरुजनों के चरणों के प्रति स्नेह, मुख में सदा सत्य वचन, दोनों भुजाओं में विजय दिलाने वाला अतुलनीय बल, हृदय में पवित्र भाव तथा कानों में शास्त्रज्ञान सुनने का गुण-ये सब ऐश्वर्य के बिना भी महापुरुषों के स्वाभाविक आभूषण हैं।

व्याख्या–महापुरुषों के शरीर के विभिन्न अंग बिना आभूषणों के भी शोभायुक्त रहते हैं। दान देना उनके हाथों का आभूषण होता है। गुरुजनों के चरणों में सिर झुकाकर प्रणाम करना उनके सिर का आभूषण होता है। मुख की शोभा सत्य वचन बोलना, भुजाओं की शोभा अतुल बल सम्पदा, हृदय का आभूषण पवित्र आचरण तथा कानों की शोभा वेदशास्त्रों के ज्ञान को सुनने से होती है। इस प्रकार शरीर पर विभिन्न गहनों को धारण किए बिना भी गुणों के आभूषणों से सज्जनों के शरीर अलंकृत होते हैं जिनसे वे समाज में यशस्वी होते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में **शिखरिणी** छन्द तथा **विभावना** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–सज्जनानां हस्तस्य आभूषणं दानं भवति, तेषां शिर: गुरु-चरणयो: प्रणिपातेन, मुखं सत्यभाषणेन, भुजे बलेन, हृदयं स्वच्छाचरणेन, कर्णौ च शास्त्रश्रवणेन शोभन्ते। लौकिक-आभूषणानि ते न अपेक्षन्ते।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

गुरुपादप्रणयिता=गुरूणां पादयो: प्रणयिता ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

अतुलम्=नास्ति तुला यस्य तत् ; नञ् तत्पुरुष समास।

श्रुतम्=√श्रु+क्त प्रत्यय।

अधिगतम्=अधि उपसर्ग √गम्+क्त प्रत्यय।

प्रकृतिमहताम्=प्रकृत्या महान्त:, तेषाम् ; तृतीया तत्पुरुष समास।

सन्धि-विच्छेद

श्लाघ्यस्त्यागः=श्लाघ्यः+त्यागः।

भुजयोर्वीर्यम्=भुजयोः+वीर्यम्।

विनाऽप्यैश्वर्येण=विना+अपि+ऐश्वर्येण।

छात्र ध्यान दें, यहाँ 'बिना' शब्द के योग में 'ऐश्वर्येण' में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

सम्पत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम्।
आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम्।। 64।।

अन्वयः—महताम् चित्तम् संपत्सु उत्पलकोमलम् भवति आपत्सु च महाशैलशिला-संघातकर्कशम्।

प्रसंग—महापुरुषों के चित्त की वृत्ति आपत्ति तथा सम्पत्ति के समय कैसी होती है—इस विषय का निरूपण करते हुए कवि कहते हैं—

शब्दार्थ—[महताम्] महापुरुषों का। [चित्तम्] मन। [सम्पत्सु] सम्पत्ति में। [उत्पलकोमलम्] कमल के समान कोमल। [च] तथा। [आपत्सु] आपत्ति के समय। [महाशैलशिलासङ्घातकर्कशम्] बड़े पर्वत की चट्टान के समान कठोर (होता है)।

सरलार्थ—सम्पत्ति के समय महापुरुषों का चित्त कमल के समान कोमल रहता है तथा आपत्ति के समय वही चित्त महाशैल की चट्टान की तरह कठोर भी हो जाता है।

व्याख्या—सज्जन अपने मन को समय एवं परिस्थिति के अनुसार ही ढाल लेते हैं। कभी उनका चित्त धन-सम्पत्ति होने पर कमल के समान कोमल रहता है लेकिन उनका वही चित्त आवश्यकता पड़ने पर अर्थात् आपत्ति के समय धैर्य का परिचय देने के लिए विशाल पर्वत की चट्टान की तरह कठोर तथा सुदृढ़ भी हो जाता है। विपत्तियों में न घबराना, उनका दृढ़तापूर्वक सामना करना तथा धैर्य एवं सहनशीलता का परिचय देना सज्जनों के चित्त की विशेषता है।

प्रस्तुत श्लोक में **अनुष्टुप्** छन्द तथा **उपमा** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः—महापुरुषाणां चित्तं संपत्तिकाले कमलमिव कोमलं भवति किन्तु विपत्तिकाले तदेव चित्तं महापर्वतस्य शिलासमूहवत् कठोरमपि जायते। एवं परिस्थित्यनुसारं तेषां चित्तमपि परिवर्तते।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

उत्पलकोमलम्=उत्पल इव कोमलम् ; कर्मधारय समास।

महाशैलशिलासंघातकर्कशम्=महान् चासौ शैलः महाशैलः, तस्य महाशैलस्य शिलानाम् संघातवत् कर्कशम् ; कर्मधारय समास।

सन्तप्तायसि संस्थितस्थ पयसो नामापि न ज्ञायते
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते।
स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितं सन्मौक्तिकं जायते
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायते।। 65।।

अन्वयः–संतप्तायसि संस्थितस्य पयसः नाम अपि न ज्ञायते तत् एव नलिनीपत्रस्थितम् मुक्ताकारतया राजते तत् स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितं मौक्तिकं जायते प्रायेण अधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतः जायते।

प्रसंगः–'प्रायः अधम, मध्यम तथा उत्तम गुण संगति से उत्पन्न होते हैं'–
जल की बिन्दु का उदाहरण देकर इस विषय को स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

शब्दार्थ–[सन्तप्तायसि] तपे हुए (गर्म) लोहे पर। [संस्थितस्य] गिरे हुए। [पयसः] जल का। [नाम] नाम-निशान। [अपि] भी। [न ज्ञायते] नहीं जाना जाता। [तदेव] वही जल। [नलिनीपत्रस्थितम्] कमलिनी के पत्ते पर स्थित। [मुक्ताकारतया] मोती के आकार की तरह। [राजते] सुशोभित होता है। [तत्] वह जल। [स्वात्याम्] स्वाती नक्षत्र में। [सागरशुक्तिमध्यपतितम्] सागर की सीप के बीच में गिरा हुआ। [मौक्तिकम्] मोती। [जायते] बन जाता है। [प्रायेण] प्रायः। [अधममध्यमोत्तमगुणः] अधम, मध्यम और उत्तम गुण। [संसर्गतः] संसर्ग से (संगति से) [जायते] बनता है।

सरलार्थ–गर्म लोहे पर गिरे हुए जल का नाम-निशान भी नहीं जाना जाता, वही जल कमलिनी के पत्ते पर स्थित हुआ मोती के आकार की तरह सुशोभित होता है। स्वाती नक्षत्र में वह जल समुद्र की सीप के बीच में गिरकर मोती बन जाता है। प्रायः अधम, मध्यम और उत्तम गुण वाला व्यक्ति संगति से बनता है।

व्याख्या–संगति का प्रभाव बहुत महान होता है–इसी का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं कि जल गर्म लोहे पर पड़कर अपना भी अस्तित्व खो बैठता है, वही जल कमल के पत्ते पर गिरकर मोती के समान सुशोभित होता है तथा वही जल स्वाती नक्षत्र में समुद्र की सीप के बीच में पड़कर मोती बन जाता है। इस प्रकार संगति बहुमूल्य होती है। संगति से मनुष्य गुणवान्, सामान्य तथा नीच भी बन जाता है अर्थात् जैसी संगति मनुष्य करता है वैसा ही स्थान वह समाज में पाता है। संगति से मनुष्य अधम, मध्यम तथा उत्तम-तीन प्रकार की स्थिति प्राप्त कर सकता है। अतः संगति करते समय बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **यथासंख्य** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–तप्ते लौहे पतितस्य जलस्य सत्तापि न ज्ञायते, कमलपत्रे स्थितं

जलं मौक्तिकमिव आभाति। तदेव जलं स्वातिनक्षत्रे शुक्तिकाया: उदरे पतितं सत् मौक्तिकं जायते। अत: सुस्पष्टमिदं यत् अधमां, मध्यमाम् उत्तमां वा यादृशीं संगतिं मानव: करोति तादृशं पदमेव स: प्राप्नोति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

सन्तप्तायसि=सन्तप्तम् अय: तस्मिन् ; कर्मधारय समास।

संस्थितस्य=सम् उपसर्ग √स्था+क्त प्रत्यय।

ज्ञायते=√ज्ञा+कर्मणि यक्, आत्मनेपद, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

मुक्ताकारतया=मुक्ताया: आकार: इव आकारो यस्य तत् मुक्ताकारम्।

मुक्ताकारस्य भाव:, तया ; बहुव्रीहि समास।

नलिनीपत्रस्थितम्=नलिन्या: पत्रे स्थितम् ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

सागरशुक्तिमध्यपतितम्=सागरस्य शुक्ते: मध्ये पतितम्, तत्पुरुष समास।

अधममध्यमोत्तमगुण:=अधमाश्च मध्यमाश्च उत्तमाश्च गुणा: यस्य स: ; बहुव्रीहि समास।

राजते=√राज्, आत्मनेपद, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

जायते=√जन् आत्मनेपद, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धिविच्छेद

नामापि=नाम+अपि।

तदेव=तत्+एव।

तन्मौक्तिकम्=तत्+मौक्तिकम्।

प्रीणाति य: सुचरितै: पितरं स पुत्रो
यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम्।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं
यदेतत्त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते।।66।।

अन्वय:–य: सुचरितै: पितरम् प्रीणाति स पुत्र:। यत् भर्तु: हितम् एव इच्छति तत् कलत्रम्। यत् आपदि सुखे च समक्रियम् (तिष्ठति) तत् मित्रम्। एतत् त्रयम् जगति पुण्यकृत: लभन्ते।

प्रसंग–पुण्यात्मा लोग ही संसार में सत्पुत्र, सत्पत्नी तथा सन्मित्र प्राप्त करते हैं–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[य:] जो। [सुचरितै:] अपने अच्छे आचरणों से। [पितरम्] पिता को। [प्रीणाति] प्रसन्न करता है। [स:] वह। [पुत्र:] पुत्र है। [यत्] जो। [भर्तु:] अपने पति का। [हितम्] कल्याण। [इच्छति] चाहती है। [तत्] वह। [कलत्रम्] पत्नी है। [यत्]

जो। [आपदि] आपत्ति में। [च] और। [सुखे] सुख में। [समक्रियम्] एक जैसा बना रहता है। [तत्] वह। [मित्रम्] मित्र है। [एतत् त्रयम्] इन तीनों को। [जगति] संसार में। [पुण्यकृत:] पुण्यवान् लोग। [लभन्ते] प्राप्त करते हैं।

सरलार्थ–जो अपने पवित्र एवं सुन्दर आचरण से पिता को प्रसन्न करे वही सच्चा पुत्र है, जो सदा अपने पति का कल्याण चाहती है वही पत्नी है और जो दु:ख सुख में एक समान व्यवहार करता है वह सच्चा मित्र है। पुण्यात्मा लोग ही संसार में इन तीनों को प्राप्त कर पाते हैं।

व्याख्या–जन्म देने से ही कोई पुत्र पुत्र नहीं हो जाता, जो सच्चे अर्थों में अपने कर्तव्य का पालन करता है, शुभ आचरण से अपने पिता को प्रसन्न करता है वास्तव में वही सच्चा पुत्र कहलाने का अधिकारी होता है; जो सदा अपने पति का कल्याण चाहती है, सदा उसकी मंगलकामना करती है–वही सच्ची पत्नी है और जो सुख-दु:ख दोनों में समान व्यवहार करता है–वही सच्चा मित्र है। अच्छा पुत्र, अच्छी पत्नी तथा अच्छा मित्र ये तीनों संसार में पुण्यात्माओं को ही प्राप्त होते हैं। अपने सौभाग्य से ही मनुष्य सत्पुत्र, सत्पत्नी तथा सन्मित्र प्राप्त कर पाता है–इसमें सन्देह नहीं।

प्रस्तुत श्लोक में **वसन्ततिलका** छन्द है।

संस्कृत-भावार्थ:–आज्ञाकारी सदाचारी च पुत्र:, मंगलकामिनी पत्नी, सुखे दु:खे च समव्यवहारं मित्रम् च संसारे पुण्येनैव लभ्यन्ते।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

प्रीणाति=√प्री, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सुचरितै:=शोभनानि चरितानि, तै: ; कर्मधारय समास।

इच्छति=√इष्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

समक्रियम्=समा क्रिया यस्य तत् ; बहुव्रीहि समास।

पुण्यकृत:=पुण्यं कुर्वन्ति ये ते ; बहुव्रीहि समास।

लभन्ते=√लभ्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

सन्धि-विच्छेद

पुत्रो यद्भर्तुरेव=पुत्र:+यत्+भर्तु:+एव।

तन्मित्रम्=तत्+मित्रम्।

यदेतत्त्रयम्=यत्+एतत्त्रयम्।

पुण्यकृतो लभन्ते=पुण्यकृत:+लभन्ते।

एको देव: केशवो वा शिवो वा
एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा।

एको वासः पत्तने वा वने वा
एका नारी सुन्दरी वा दरी वा।। 67।।

अन्वयः–एकः देवः केशवः वा शिवः वा, एकम् मित्रम् भूपतिः वा यतिः वा, एकः वासः पत्तने वा वने वा, एका नारी सुन्दरी वा दरी वा।

प्रसंग–मनुष्य को सुखी एवं शान्त जीवनयापन करने के लिए किसी एक वस्तु या व्यक्ति को ही अपनाना चाहिए–इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए कवि कहते हैं यहां–

शब्दार्थ–[एकः देवः] एक देवता (होना चाहिए)। [केशवः] विष्णु। [वा] अथवा। [शिवः] शङ्कर। [वा] या। [एकम् मित्रम्] एक मित्र। (होना चाहिए) [भूपतिः वा] राजा हो अथवा। [यतिः वा] योगी हो अथवा। [एकः वासः] एक ही जगह निवास हो। [पत्तने वा] नगर में हो अथवा। [वने वा] चाहे जंगल में हो। [एका नारी] एक ही पत्नी हो। [सुन्दरी वा] चाहे वह सुन्दरी हो अथवा। [दरी] कुरूप हो।

सरलार्थ–मनुष्य को एक ही देवता की उपासना करनी चाहिए चाहे वह विष्णु हो अथवा शङ्कर हो ; एक ही मित्र होना चाहिए चाहे वह राजा हो अथवा योगी हो ; एक ही जगह निवास करना चाहिए चाहे नगर में हो या जंगल में हो और स्त्री भी एक ही हो चाहे वह सुन्दर हो या कुरूप हो।

व्याख्या–मनुष्य को स्थिरचित्त होकर एक का ही आश्रय लेना चाहिए–इस भाव की बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है इस श्लोक में। मनुष्य को एक ही आराध्य देव रखना चाहिए–वह चाहे विष्णु, श्रीकृष्ण या शङ्कर भगवान हों–उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता ; इसी प्रकार घनिष्ठ मित्र एक ही बनाना चाहिए चाहे वह राजा हो या योगी-तपस्वी क्यों न हो ; एक ही स्थान पर निवास करना चाहिए चाहे वह स्थान नगर हो या वन ; पत्नी भी एक ही होनी चाहिए चाहे वह सुन्दरी हो या कुरूप हो।

यहां दरी का अर्थ 'गुफा' भी है। ऐश्वर्यशाली राजा ही भोगियों का मित्र होता है। इस प्रकार यहां योगमार्ग तथा भोगमार्ग दो मार्गों का भी निर्देश किया गया है। भोगियों के आराध्य देव सभी ऐश्वर्य से सम्पन्न भगवान् विष्णु होते हैं, उनके मित्र ऐश्वर्यशाली राजा होते हैं, उनका निवासस्थान भोग-विलास के पदार्थों से विभूषित नगर होते हैं तथा उनकी पत्नी सुन्दरी होती है। इसके विपरीत योगियों का उपास्य देव ऐश्वर्यों से विरक्त भगवान् शिव हैं, उनके मित्र भी उनकी तरह योगी ही होते हैं, उनका निवास भी शान्त जंगलों में होता है, वे गुफा (एकान्त स्थान) को ही अपनी पत्नी मानते हैं, वहीं पूरा-पूरा दिन ईश्वर की आराधना, योगमाया आदि में बिता देते हैं। दोनों ही मार्ग बिल्कुल भिन्न-भिन्न हैं। अतः आचार्य भर्तृहरि यहां एक ही मार्ग का अवलम्बन करने का उपदेश दे रहे हैं मानवमात्र को।

प्रस्तुत श्लोक में **शालिनी** छन्द तथा **अनुप्रास** अलंकार है।

संस्कृतभावार्थः–मानवैः एक एव देवः उपास्यः विष्णुः शुम्भुः वा, एकमेव मित्रं भवितव्यं राजा योगी वा, एकस्मिन् एव स्थाने निवासः विधेयः नगरे निर्जने वने वा, एकमेव एका एव स्त्री सेव्या।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

भूपतिः=भुवः पतिः ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

सन्धि-विच्छेद

एको देवः=एकः+देवः।

केशवो वा=केशवः+वा।

शिवो वा=शिवः+वा।

भूपतिर्वा=भूपतिः+वा।

यतिर्वा=यतिः+वा।

एको वासः=एकः+वासः।

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान्गुणान्ख्यापयन्तः
स्वार्थान्सम्पादयन्तो विततपृथुतरारम्भयत्नाः परार्थे।
क्षान्त्यैवाक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान्दुर्जनान्दूषयन्तः
सन्तः साश्चर्यचर्या जगति बहुमताः कस्य नाभ्यर्चनीयाः।। 68।।

अन्वयः–नम्रत्वेन उन्नमन्तः, परगुणकथनैः स्वान् गुणान् ख्यापयन्तः परार्थे विततपृथुतरारम्भयत्नाः स्वार्थान् संपादयन्तः, क्षान्त्या एव आक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान् दुर्जनान् दूषयन्तः, साश्चर्यचर्याः बहुमताः सन्तः जगति कस्य न अभ्यर्चनीयाः (सन्ति)?

प्रसंग–विनम्रता आदि अपने स्वाभाविक गुणों से विभूषित सज्जन सभी के लिए पूजनीय होते हैं–इस विषय का निरूपण करते हुए कवि यहां कहते हैं–

शब्दार्थ–[नम्रत्वेन] विनम्रता से। [उन्नमयन्तः] उन्नति करने वाले। [परगुणकथनैः] दूसरों के गुणों का गान करते हुए। [स्वान् गुणान्] अपने गुणों को। [ख्यापयन्तः] प्रकट करते हुए। [परार्थे] दूसरों के हित के लिए। [विततपृथुतरारम्भयत्नाः] अत्यधिक प्रयत्नशील रहते हुए। [स्वार्थान्] अपने कार्यों को। [सम्पादयन्तः] सम्पन्न करते हुए। [आक्षेपरूक्षाक्षर मुखरमुखान्] निन्दा के कटु वचनों को बोलने वाले। [दुर्जनान्] दुर्जनों को। [क्षान्त्या] क्षमाशीलता की भावना के साथ। [दूषयन्तः] दूषित करते हुए। [साश्चर्यचर्याः] आश्चर्यजनक आचरण वाले। [बहुमताः] आदरणीय। [सन्तः] सज्जन। [जगति] संसार में। [कस्य] किसके (लिए)। [अभ्यर्चनीयाः न] पूजनीय नहीं होते?

सरलार्थ–[सबके साथ] विनम्रतापूर्ण आचरण करते हुए उन्नति करने वाले, दूसरों

का गुणगान करते हुए अपने गुणों को प्रकट करने वाले, दूसरों के हित करने में अत्यंत प्रयत्नशील रहते हुए अपने कार्यों को सम्पन्न करने वाले तथा निन्दापूर्ण एवं कटु वचन बोलने वाले दुष्टों को क्षमाशीलता के साथ तिरस्कृत करने वाले-ऐसे अद्भुत व्यवहार वाले आदरणीय सज्जन संसार में किसके लिए पूज्य नहीं होते? (अर्थात् वे सभी के लिए पूज्य होते हैं।)

व्याख्या–महापुरुष अपने अद्भुत आचरण के कारण ही संसार में सबका सम्मान प्राप्त करते हैं–यही स्पष्ट करते हुए कवि कहते हैं कि सज्जन सबके प्रति विनम्र रहते हुए उन्नति के पथ पर अग्रसर होते हैं ; दूसरों का यशोगान करते हुए अपने गुणों को भी प्रकट कर देते हैं, परहित करने में प्रयत्नशील रहते हैं परन्तु साथ-साथ अपने कार्यों को सम्पन्न कर लेते हैं और साथ ही उपेक्षापूर्ण और कटु वचन बोलने वाले दुर्जनों को अत्यंत सहनशीलतापूर्वक तिरस्कृत भी करते हैं–ऐसा आश्चर्यजनक आचरण करने वाले महापुरुष निस्संदेह बहुत कम होते हैं और वे सभी के लिए आदरणीय होते हैं, पूज्य होते हैं– इसमें संदेह नहीं।

प्रस्तुत श्लोक में **स्रग्धरा** छन्द तथा **काकुवक्रोक्ति** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–सज्जनाः विनयशीलत्वेन उन्नतिं कुर्वन्ति, परगुणकीर्त्तनेन स्वगुणान् अपि प्रकटयन्ति, परकार्यसाधनेन समं स्वकार्याणि अपि साधयन्ति, सहनशीलतया एव दुर्जनानां कटुचननानि अपि तिरस्कुर्वन्ति-ईदृशाः आश्चर्यचरित्राः सत्पुरुषाः सर्वेषामपि पूजनीयाः भवन्ति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

उन्नमतः=उत् उपसर्ग √नम्+शतृ प्रत्यय, पु॰, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन।

परगुणकथनैः=परेषां गुणानां कथनानि, तैः, षष्ठी तत्पुरुष समास।

ख्यापयन्तः=√ख्या+णिच्+पुक् आगम+शतृ प्रत्यय, पु॰, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन।

सम्पादयन्तः=सम् उपसर्ग √पद्+णिच्+शतृ प्रत्यय, पु॰, प्रथमा बहुवचन।

विततपृथुतरारम्भयत्नाः=वितताः पृथुतराम्भयत्नाः येषां ते ; बहुव्रीहि समास।

स्वार्थान्=स्वस्य अर्थाः ; तान् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

परार्थे=परेषाम् अर्थः, तस्मिन् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

आक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान्=आक्षेपरूक्षाणि अक्षराणि आक्षेपरूक्षाक्षराणि, आक्षेपरूक्षाक्षरैः मुखराणि मुखानि येषां ते, तान् ; बहुव्रीहि समास।

दूषयन्तः=√दूष्+णिच्+शतृ प्रत्यय, पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन।

साश्चर्यचर्याः=आश्चर्येण सहिता, साश्चर्या चर्या येषां ते ; बहुव्रीहि समास।

बहुमताः=बहूनां मताः ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

सन्धि-विच्छेद

नम्रत्वेनोन्नमन्तः=नम्रत्वेन+उन्नमन्तः।

क्षान्त्यैवाक्षेप॰=क्षान्त्या+एव+आक्षेप॰।

सम्पादयन्तो विततपृथु॰=सम्पादयन्तः+विततपृथु॰।

नाभ्यर्चनीयाः=न+अभ्यर्चनीयाः।

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैः
नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्।। 69।।

अन्वयः–तरवः फलोद्गमैः नम्राः भवन्ति, घनाः नवाम्बुभिः दूरविलम्बिनः (भवन्ति)। सत्पुरुषाः समृद्धिभिः अनुद्धताः (भवन्ति)। एषः परोपकारिणाम् स्वभावः एव (अस्ति)।

प्रसंग–परोपकारी सज्जनों के स्वभाव का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[तरवः] वृक्ष। [फलोद्गमैः] फलों के भार से। [नम्राः] झुक जाते हैं। [घनाः] बादल। [नवाम्बुभिः] नए जल से। [दूरविलम्बिनः] दूर तक लटक जाते हैं। [सत्पुरुषाः] सज्जन। [समृद्धिभिः] वैभव से। [अनुद्धताः] विनम्र। [भवन्ति] रहते हैं। [एषः] यह। [परोपकारिणाम्] परोपकारियों का। [स्वभावः] स्वभाव। [एव] ही (होता है)।

सरलार्थ–वृक्ष फलों के भार से झुक जाते हैं, बादलों की घटा नए जल से भर जाने पर लटक जाती है तथा सज्जन धन-वैभव को प्राप्त करके उद्धत नहीं होते ; परोपकारी लोगों का यही स्वभाव होता है।

व्याख्या–कवि अनेक उदाहरणों से सज्जनों की सज्जनता का वर्णन करते हुए कहता है कि जिस प्रकार वृक्ष फलों को प्राप्त करके और नीचे झुक जाते हैं, बादल जल से परिपूर्ण होकर पृथ्वी की ओर लटकने लगते हैं, उसी प्रकार सज्जन धन वैभव को प्राप्त करके उद्धत नहीं होते, उद्दण्ड नहीं होते, अपितु विनम्र होते हैं क्योंकि अधिक धनवैभव को प्राप्त करके उन्हें परोपकार करने के और अधिक अवसर सुलभ हो जाते हैं। परोपकारी लोगों का स्वभाव ही विनम्रतापूर्वक दूसरों का उपकार करना होता है।

प्रस्तुत श्लोक में **वंशस्थ** छन्द तथा **अर्थान्तरन्यास** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–यथा फलयुक्ताः वृक्षाः फलभारेण, मेघाः जलभारेण च विनम्राः

भवन्ति तथैव सज्जना: समृद्धिभि: नम्रा: भवन्ति, यतो हि परोपकारिणां जनानां स्वभाव: एव एष: भवति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

फलोद्गमै:=फलानाम् उद्गमा: तै: ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

नवाम्बुभि:=नवानि अम्बूनि, तै: ; कर्मधारय समास।

दूरविलम्बिन:=दूरं विलम्बितुं शीलं येषां ते ; उपपद समास।

अनुद्धता:=न उद्धता: इति ; नञ् तत्पुरुष समास।

सत्पुरुषा:=सन्त: पुरुषा: इति, कर्मधारय समास।

परोपकारिणाम्=परेषाम् उपकारिण: , तेषाम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

सन्धि-विच्छेद

नम्रास्तरव:=नम्रा:+तरव:।

नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिन:=नवाम्बुभि:+दूरविलम्बिन:।

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन
दानेन पाणिर्न तु कंकणेन।
विभाति काय: करुणापराणां
परोपकारैर्न तु चन्दनेन।। 70।।

अन्वय:–करुणापराणाम् श्रोत्रं श्रुतेन एव विभाति कुण्डलेन न, पाणि: दानेन विभाति कङ्कणेन न, काय: परोपकारेण विभाति, चन्दनेन न।

प्रसंग–'सज्जनों के शारीरिक अंगों की शोभा नश्वर आभूषणों से नहीं होती अपितु परोपकार से होती है'–इस विषय का निरूपण करते हुए कवि कहता है–

शब्दार्थ–[करुणापराणाम्] दयालु मनुष्यों के। [श्रोत्रम्] कान। [श्रुतेन एव] वेदशास्त्र आदि के सुनने से ही। [विभाति] सुशोभित होता है। [कुण्डलेन न] कुण्डल धारण करने से नहीं। [पाणि:] हाथ। [दानेन] दान करने से। [कङ्कणेन न] कंगन धारण करने से नहीं। [काय:] शरीर। [परोपकारेण] परोपकार करने से। [चन्दनेन न] चन्दन लगाने से नहीं।

सरलार्थ–दयालु मनुष्यों के कान की सुन्दरता वेदादि शास्त्रों को सुनने से होती है, कानों में सुन्दर कुण्डल धारण करने से नहीं होती, हाथ दान देने से सुशोभित होते हैं, हाथों में सुन्दर कंगण पहनने से नहीं। इसी प्रकार उनका शरीर चन्दन आदि का लेप करने से सुशोभित नहीं होता अपितु दूसरों का उपकार करने से शोभा पाता है।

व्याख्या–दयालु लोगों का स्वभाव दूसरों पर दया दिखाना, उनका उपकार करना है, अत: उनके कानों की शोभा वेदादि शास्त्रों को सुनने से होती है। वे अपना समय शास्त्रों को पढ़ने सुनने में ही व्यतीत करते हैं, बाह्य कर्णाभूषणों से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं होता। हाथों से दान करना ही वे हाथों का उचित उपयोग मानते हैं, अत: दान देकर दूसरों की भलाई करना वे अपना कर्तव्य मानते हैं। उनके हाथ कङ्कण धारण करने से सुशोभित नहीं होते। दूसरों की भलाई करने के लिए ही वे शरीर धारण करते हैं। अत: चन्दन के लेप से वे शरीर को भूषित नहीं करते अपितु दूसरों का उपकार करने में ही वे शरीर की वास्तविक शोभा मानते हैं। ऐसे महापुरुष निस्संदेह संसार में मिलने दुर्लभ होते हैं, जो सांसारिक आभूषणों की परवाह न करके दूसरों की भलाई में ही अपना जीवन-सर्वस्व लगा देते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में 'उपजाति' छन्द तथा परिसंख्या अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–दयावतां सज्जनानां कर्णौ शास्त्रश्रवणेन, हस्तौ दानेन, शरीरं च परोपकारेण शोभते, कुण्डलेन, कंकणेन चन्दनलेपेन वा न।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

करुणापराणाम्=करुणानां परा:, तेषाम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

विभाति=वि उपसर्ग √भा, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

परोपकारेण=परेषाम् उपकार:, तेन ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

सन्धिविच्छेद

श्रुतेनैव=श्रुतेन+एव।

पाणिर्न=पाणि:+न।

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यानि गूहति गुणान्प्रकटीकरोति।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्त:।। 71।।

अन्वय:–पापात् निवारयति हिताय योजयते गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटीकरोति आपद्गतम् न जहाति काले च ददाति इदं सन्त: सन्मित्रलक्षणम् प्रवदन्ति।

प्रसंग–अच्छे मित्र के लक्षण बताते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[पापात्] पाप से। [निवारयति] रोकता है। [हिताय] कल्याण के लिए। [योजयते] लगाता है। [गुह्यम्] छिपाने योग्य बात को। [निगूहति] छिपाता है। [गुणान्] गुणों को। [प्रकटीकरोति] प्रकट करता है। [आपद्गतम्] आपत्ति में पड़े हुए (मित्र को)।

[न] नहीं। [जहाति] छोड़ता। [काले च] और समय आने पर। [ददाति] देता है। [इदम्] यह। [सन्तः] सज्जन। [सन्मित्रलक्षणम्] अच्छे मित्र का लक्षण। [प्रवदन्ति] बताते हैं।

सरलार्थ–सज्जन अच्छे मित्र का लक्षण इस प्रकार बताते हैं–वह (अपने मित्र को) पाप करने से रोकता है, अच्छे काम में प्रवृत्त करता है, गुप्त बात (दोषादि) को छिपाता है उसके गुणों को फैलाता है, आपद्ग्रस्त मित्र को नहीं छोड़ता तथा आवश्यकता के समय धनादि दान भी देता है।

व्याख्या–सज्जन अच्छे मित्र की पहचान बताते हुए कहते हैं कि वह अपने मित्र को पाप कर्म (दुष्कर्म) करने से रोकता है, वह उसे शुभ कर्मों की ओर प्रवृत्त करता है, मित्र की दोषादि गुप्त बातों को गुप्त रखता है और उसकी प्रशंसनीय बातें, उसके गुणों को फैलाता है, यदि मित्र पर कोई आपत्ति आ जाए तो उसे छोड़कर नहीं चला जाता। इसके अतिरिक्त मित्र को यदि किसी प्रकार की आर्थिक सहायता चाहिए तो धन आदि देकर उसे सहयोग देता है। अपने मित्र की इस प्रकार सहायता करने वाला व्यक्ति ही सच्चा मित्र कहलाता है–ऐसा मन्तव्य है आचार्य भर्तृहरि का।

प्रस्तुत श्लोक में **वसन्ततिलका** छन्द तथा **समुच्चय** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–सन्मित्रं तदेव भवति यत् स्वमित्रं दुराचरणात् निवारयति, सत्कर्मणि प्रेरयति, दोषानाच्छाद्य गुणान् प्रकाशयति, विपत्तिग्रस्तं स्वमित्रं न कदापि त्यजति, यथासमयं साहाय्यं च करोति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

निवारयति=नि उपसर्ग √वृ+णिच्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

योजयते=√युज्+णिच्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

गुह्यम्=√गुह्+यत् प्रत्यय।

निगूहति=नि उपसर्ग √गुह्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

प्रकटीकरोति=प्रकट+च्वि प्रत्यय, √कृ,लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

आपद्गतम्=आपदं गतः, तम् ; द्वितीया तत्पुरुष समास।

जहाति=√हा, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

ददाति=√दा, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्मित्रलक्षणम्=सत् मित्रम्, तस्य लक्षणम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

प्रवदन्ति=प्र उपसर्ग √वद्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

सन्धि-विच्छेद–

पापान्निवारयति=पापात्+निवारयति।

पद्माकरं दिनकरो विकचीकरोति
चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम्।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति
सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगाः।। 72।।

अन्वयः–नाभ्यर्थितः सन् दिनकरः पद्माकरं विकचीकरोति चन्द्रः कैरवचक्रवालं विकासयति। जलधरः अपि (नाभ्यर्थितः सन्) जलं ददाति सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगाः भवन्ति।

प्रसंग–'सज्जन स्वभाव से ही दूसरों का कल्याण करने में प्रवृत्त रहते हैं'–इस विषय का निरूपण करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[न अभ्यर्थितः] बिना प्रार्थना किए। [दिनकरः] सूर्य। [पद्माकरम्] कमल समूह को। [विकचीकरोति] विकसित करता है। [चन्द्रः] चन्द्रमा। [कैरवचक्रवालम्] कुमुदिनी के समूह को। [विकासयति] विकसित करता है। [जलधरः] बादल। [अपि] भी। [जलम्] पानी। [ददाति] प्रदान करता है। [सन्तः] सज्जन। [स्वयम्] अपने आप। [परहितेषु] दूसरों का कल्याण करने में। [कृताभियोगाः] प्रयत्नशील रहते हैं।

सरलार्थ–बिना प्रार्थना किए ही सूर्य कमलों को विकसित करता है, चन्द्रमा कमलिनियों को विकसित करता है और मेघ भी पानी बरसाता है। (इसी प्रकार) सज्जन भी अपने ही आप परोपकार करने में प्रयत्नशील रहते हैं।

व्याख्या–सज्जनों का स्वभाव ही दूसरों का कल्याण करना होता है, वे किसी की प्रार्थना से परोपकार नहीं करते। जिस प्रकार सूर्य अपने ही आप कमलों को विकसित करता हैं, चन्द्रमा कुमुदों को खिलाता है और मेघ स्वतः वृष्टि के रूप में जल बरसा कर सभी को शान्त करता है ठीक उसी प्रकार परोपकार करना सज्जनों का स्वाभाविक धर्म है, उनकी सहज प्रवृत्ति होती है जिसके लिए वे दूसरों की प्रार्थना की अपेक्षा नहीं रखते।

प्रस्तुत श्लोक में वसन्ततिलका छन्द तथा अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–सूर्यः स्वतः एव कमलसमूहं विकसितं करोति, चन्द्रः कुमुदानि विकासयति, मेघःअपि अयाचित एव जलं यच्छति। अनेन सिध्यति यत् सज्जनाः स्वतः अप्रार्थित एव परोपकारे प्रवर्तन्ते।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

अभ्यर्थितः=अभि उपसर्ग √अर्थ्+क्त प्रत्यय।

पद्माकरम्=पद्मानाम् आकरम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

दिनकर:=दिनं करोति इति ; द्वितीया तत्पुरुष समास।

विकासयति=वि उपसर्ग √कास्+णिच्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

कैरवचक्रवालम्=कैरवाणां चक्रवालम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

जलधर:=जलं धरति इति ; द्वितीया तत्पुरुष समास।

ददाति=√दा, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

परहिते=परेषां हितम्, तस्मिन् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

कृताभियोगा:=कृत: अभियोग: यै: ते ; बहुव्रीहि समास।

सन्धि-विच्छेद

नाभ्यर्थित:=न+अभ्यर्थित:।

दिनकरो विकचीकरोति=दिनकर:+विकचीकरोति।

चन्द्रो विकासयति=चन्द्र:+विकासयति।

जलधरोऽपि=जलधर:+अपि।

एते सत्पुरुषा: परार्थघटका: स्वार्थं परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृत: स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसा: परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे।। 73।।

अन्वय:–ये स्वार्थान् परित्यज्य परार्थघटका: एते सत्पुरुषा:, ये स्वार्थाविरोधेन परार्थम् उद्यमभृत: (ते) तु सामान्या:, ये स्वार्थाय परहितम् निघ्नन्ति ते अमी मानवराक्षसा:, ये तु निरर्थकम् परहितम् घ्नन्ति ते के (इति) न जानीमहे।

प्रसंग–उत्तम, मध्यम, अधम तथा अधम से भी अधम चार प्रकार के मनुष्यों के स्वभाव का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[ये] जो। [स्वार्थान्] अपने स्वार्थों को। [परित्यज्य] छोड़कर। [परार्थघटका:] दूसरों का प्रयोजन सिद्ध करने वाले। [एते] ये। [सत्पुरुषा:] सज्जन। (बहुत कम होते हैं)। [ये] जो। [तु] तो। [स्वार्थाविरोधेन] अपने स्वार्थ के विरुद्ध न होते हुए। [परार्थम्] दूसरों के लिए। [उद्यमभृत:] परिश्रम करते हैं। [सामान्या:] (वे) सामान्य होते हैं। [ये] जो। [स्वार्थाय] अपने हित के लिए। [परहितम्] दूसरों के हित को। [निघ्नन्ति] नष्ट करते हैं। [ते] वे। [अमी] ये। [मानुषराक्षसा:] मनुष्य रूपी राक्षस होते हैं। [तु] किन्तु। [ये] जो। [निरर्थकम्] व्यर्थ में ही (बिना किसी प्रयोजन के)। [परहितम्]

दूसरों के हित को। [घ्नन्ति] नष्ट करते है। [ते] वे। [के] कौन हैं? [न जानीमहे] हम नहीं जानते।

सरलार्थ–जो मनुष्य स्वार्थ को छोड़कर केवल दूसरों का ही प्रयोजन सिद्ध करते हैं ऐसे बहुत ही कम सज्जन होते हैं ; जो स्वार्थ के विरुद्ध न होते हुए दूसरों के लिए परिश्रम करते हैं ऐसे मनुष्य सामान्य होते हैं ; जो अपने हित के लिए दूसरों के हित का नाश करते हैं वे मनुष्य के रूप में राक्षस होते हैं किन्तु जो व्यर्थ में ही दूसरों के हित का विनाश करते हैं वे (अधमाधम=नीच से भी नीच) मनुष्य कौन हैं–यह हम नहीं जानते?

व्याख्या–संसार में विद्यमान चार प्रकार के प्राणियों के स्वभाव का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं कि प्रथम सर्वोत्तम प्रकार के प्राणी अपने स्वार्थ को त्याग कर केवल दूसरों का ही हित करने में लगे रहते हैं। ऐसे पुरुष संसार में मिलने दुर्लभ होते हैं–ये विरले ही होते हैं। दूसरी प्रकार के प्राणी स्वार्थ का विरोध किए बिना दूसरों का हित करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं–ऐसे मनुष्य सामान्य प्रकार के लोग कहलाते हैं। तीसरी प्रकार के मनुष्य अपने हित के लिए दूसरों के हित को हानि पहुंचाते हैं। ऐसे मनुष्य वास्तव में मानवदेहधारी राक्षस होते हैं किन्तु इन तीनों के अतिरिक्त भी चौथे प्रकार के मनुष्य भी होते हैं, जो बिना किसी स्वार्थ-सिद्धि के ही परहित का विनाश करते हैं उन्हें क्या कहा जाए– ऐसा स्वयं कवि अपने मुख से नहीं कहना चाहते अर्थात् वे मनुष्य भी कहलाने के अधिकारी नहीं हैं।

इस प्रकार कवि ने इस श्लोक में सर्वप्रथम सर्वोत्तम प्रकार के प्राणियों का वर्णन किया है जो सज्जन अर्थात् महापुरुष होते हैं तथा जिनकी संख्या अत्यंत स्वल्प होती है। दूसरी प्रकार के लोग सामान्य जन होते हैं जो संसार में सुलभ होते हैं। प्राय: सामान्य जाति के ही लोग संसार में मिलते हैं। स्वार्थ-सिद्धि के लिए दूसरों के कल्याण का विनाश करने वाले लोग मनुष्यों के रूप में राक्षस होते हैं। ये अधम जाति के लोग होते हैं किन्तु इनसे भी निम्न प्रकार के लोग होते हैं जो अकारण ही दूसरों के अभीष्ट का हनन करते हैं–ऐसे अधमाधम लोगों को क्या कहा जाए-ऐसा समझना भी कठिन है। ऐसे निकृष्टतम लोग वास्तव में मनुष्य कहलाने के अधिकारी ही नहीं है–इसमें सन्देह नहीं।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **रूपक** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–ये स्वार्थं परित्यज्य परहितं साधयन्ति ते सत्पुरुषा: उत्तमप्रकृतिजना: भवन्ति। ये स्वार्थं साधयन्त: परार्थेऽपि दत्तचित्ता: भवन्ति ते सामान्या: जना: भवन्ति। ये तु स्वार्थसिद्ध्यै परहितं नाशयन्ति ते दुष्टा: जना: मनुष्यरूपे राक्षसा: भवन्ति किन्तु ये तु विना प्रयोजनं निरर्थकमेव परहितं नाशयन्ति ते निकृष्टतमा: प्राणिन: भवन्ति–नात्र सन्देहस्य लवोऽपि।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

सत्पुरुषा:=सन्त: ते पुरुषा: ; कर्मधारय समास।

स्वार्थम्=स्वस्य अर्थ:, तम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

परित्यज्य=परि उपसर्ग √त्यज्+ल्यप् प्रत्यय।

परार्थघटका:=परेषाम् अर्था: तेषां घटका: ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

स्वार्थाविरोधेन=स्वार्थस्य अविरोध:, तेन ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

उद्यमभृत:=उद्यमं बिभ्रति इति ते ; उपपद समास।

परहितम्=परेषां हितम्, तत् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

निघ्नन्ति=नि उपसर्ग √हन्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

मानुषराक्षसा:=मानुषेषु राक्षसा:; सप्तमी तत्पुरुष समास।

निरर्थकम्=निर्गत: अर्थ: यस्मात्, तत् ; बहुव्रीहि समास।

जानीमहे=√ज्ञा, लट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन।

सन्धि-विच्छेद

सामान्यास्तु=सामान्या:+तु।

तेऽमी=ते+अमी।

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ता: पुरा तेऽखिला:
क्षीरोत्तापमवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानौ हुत:।
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद् दृष्टवा तु मित्रापदं
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी।। 74।।

अन्वय:–पुरा क्षीरेण आत्मगतोदकाय ते अखिला: गुणा: दत्ता हि। क्षीरोत्तापम् अवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानौ हुत:। तत् तु मित्रापदम् दृष्ट्वा पावकम् गन्तुम् उन्मन: अभवत्। तेन जलेन युक्तम् (सत्) (क्षीरम्) शाम्यति। सताम् मैत्री पुन: तु ईदृशी (भवति)।

प्रसंग–'सज्जनों की मित्रता दूध और जल के समान होती है'–इस विषय का निरूपण करते हुए कवि कहता है–

शब्दार्थ–[पुरा] पहले। [क्षीरेण] दूध के द्वारा। [आत्मगतोदकाय] अपने में मिश्रित जल को। [ते] वे। [अखिला:] सारे। [गुणा:] गुण। [दत्ता:] दे दिए। [हि] निश्चयपूर्वक। [येन] इसलिए। [पयसा] जल के द्वारा। [क्षीरोत्तापम्] दूध का जलना। [अवेक्ष्य] देखकर। [स्वात्मा] अपना शरीर। [कृशानौ] अग्नि में। [हुत:] आहुति दे दिया। [तत्] वह दूध। [तु] तो। [मित्रापदम्] मित्र की आपत्ति को। [दृष्ट्वा] देखकर। [पावकम्] अग्नि को। [गन्तुम्] जाने के लिए। [उन्मन:] उत्सुक। [अभवत्] हो गया। [तेन] इस कारण से। [जलेन] जल से। [युक्तम्] युक्त होकर। [शाम्यति] वह शान्त हो जाता है।

[सताम्] सज्जनों की। [मैत्री] मित्रता। [पुन:] भी तो। [ईदृशी] इस प्रकार की (होती है)।

सरलार्थ–पहले दूध ने अपने में मिले हुए जल को अपने सारे गुण (रंग-रूप, माधुर्य आदि) दे दिए। इसलिए अपने मित्र को आपत्ति में देखकर (दूध को उबलता देखकर) जल ने स्वयं अग्नि में अपने शरीर की आहुति दे दी। अपने मित्र जल को अग्नि में जलता हुआ देखकर दूध भी अग्नि में कूदने को उत्सुक हो जाता है परन्तु उस (जल) से युक्त होकर वह शान्त हो जाता है। सज्जनों की मित्रता भी ऐसी ही होती है।

व्याख्या–दूध और जल का उदाहरण देकर सज्जनों की मित्रता का स्वरूप कितनी अच्छी प्रकार से समझाया गया है यहां। दूध अपने अन्दर मिले हुए जल को अपना रंग-रूप, माधुर्य आदि सभी गुण दे देता है। जल भी अपने मित्र दूध को उबलता देखकर दु:खी हो जाता है और उससे पहले ही अपने प्राणों को न्यौछावर करके (अपने को अग्नि को सौंपकर) जल अग्नि को बुझाने तथा दूध को बचाने के लिए तत्पर हो जाता है किन्तु पानी को अग्नि में गिरता देखकर, अपने मित्र को आपत्ति से पीड़ित देखकर दूध अब अपने जीवन की परवाह नहीं करता और वह भी जल के साथ आग में जलने को तत्पर हो जाता है। अब पुन: दूध को जलता देखकर जल से युक्त (जल के छींटों से युक्त) होकर वह दूध शान्त हो जाता है। सज्जनों की मित्रता भी ऐसी होती है। सज्जन अपने मित्र को बचाने के लिए अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करते। अपने मित्र को आपत्तियों से रहित पाकर ही वे शान्त होते हैं, आनन्दित होते हैं–कितना सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है सच्ची मित्रता का।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द और **उत्प्रेक्षा** तथा **अर्थान्तरन्यास** अलंकार हैं।

संस्कृत-भावार्थ:–सज्जनानां मैत्री दुग्धजलवत् भवति। दुग्धेन स्वात्मनि मिश्रिताय जलाय माधुर्यादि समस्ता: स्वकीया: गुणा: प्रदत्ता:। अत: अग्ने: उपरि स्थापितस्य दुग्धस्य सन्तापं दृष्ट्वा जलं स्वशरीरमग्नौ दग्धीकरोति। तत् जलं स्वप्राणान् त्यक्तुं वाञ्छति। पुन: दुग्धमपि मित्रसन्तापं दृष्ट्वा स्वशरीरं वह्नौ अर्पयितुम् उत्कण्ठित: भवति। किन्तु पुन: जलेन सिक्तमेव तत् दुग्धं शान्तं जायते। सत्यं सज्जनानां मैत्री ईदृशी एव भवति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

आत्मगतोदकाय=आत्मानं गतम् उदकम्, तस्मै ; कर्मधारय समास।

दत्ता:=√दा+क्त प्रत्यय।

क्षीरोत्तापम्=क्षीरस्य उत्तापम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

अवेक्ष्य=अव उपसर्ग √ईक्ष्+ल्यप् प्रत्यय।

स्वात्मा=स्वस्य आत्मा ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

हुत:=√हु+क्त प्रत्यय।

मित्रापदम्=मित्रस्य आपद्, ताम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

दृष्ट्वा=√दृश्+क्त्वा प्रत्यय।

गन्तुम्=√गम्+तुमुन् प्रत्यय।

उन्मन:=उद्गतं मनो यस्य तत् ; बहुव्रीहि समास।

अभवत्=√भू, लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

युक्तम्=√युज्+क्त प्रत्यय।

शाम्यति=√शम्, लट् लकार, प्रथम, पुरुष, एकवचन।

सन्धिविच्छेद

क्षीरेणात्मगतोदकाय=क्षीरेण+आत्मगतोदकाय।

तेऽखिला:=ते+अखिला:।

पावकमुन्मनस्तदभवद्=पावकम्+उन्मन:+तत्+अभवत्।

पुनस्त्वीदृशी=पुन:+तु+ईदृशी।

इत: स्वपिति केशव: कुलमितस्तदीयद्विषा-
मितश्च शरणार्थिन: शिखरिणां गणा: शेरते।
इतोऽपि वडवानल: सह समस्तसंवर्तकै-
रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्वपु:।। 75।।

अन्वय:–इत: केशव: स्वपिति, इत: तदीयद्विषां कुलम्, इत: च शरणार्थिनां शिखरिणां गणा: शेरते, इत: अपि समस्तसंवर्तकै: सह वडवानल: शेते, अहो! सिन्धो: वपु: विततम् ऊर्जितम् भरसहं च (अस्ति)।

प्रसंग–'सज्जन महापुरुष समुद्र के समान सभी को आश्रय देने वाले तथा उदार होते हैं'–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[इत:] इधर। [केशव:] भगवान् विष्णु। [स्वपिति] सो रहे हैं। [इत:] इधर। [तदीयद्विषाम्] उनके शुत्रओं का। [कुलम्] समूह। [च] और। [इत:] इधर। [शरणार्थिनाम्] शरण चाहने वाले। [शिखरिणाम्] पर्वतों के। [गणा:] समूह। [शेरतें] सो रहे हैं। [इत:] इधर। [अपि] भी। [समस्तसंवर्तकै:] समस्त प्रलयकालीन बादलों के। [सह] साथ। [वडवानल:] वडवानल है। [अहो!] आश्चर्य है। [सिन्धो:] समुद्र का। [वपु:] शरीर। [विततम्] विस्तृत। [ऊर्जितम्] बलशाली। [च] और। [भरसहम्] भार को सहन करने में समर्थ है।

सरलार्थ–एक ओर भगवान् विष्णु सो रहे हैं, दूसरी ओर उनके शत्रुओं का समूह है। इधर शरणागत पर्वतों का समूह सो रहा है और दूसरी ओर सभी प्रलयकालीन बादलों के साथ वडवानल सुशोभित है। आश्चर्य है! समुद्र का शरीर कितना विस्तृत, बलशाली तथा भार धारण करने में सक्षम है।

व्याख्या–प्रस्तुत श्लोक में समुद्र की व्यापकता, शक्तिशालिता तथा उदारता का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं कि समुद्र में एक ओर भगवान् विष्णु विश्राम करते हैं तो दूसरी ओर उनके शत्रुओं का समूह शयन करता है। इसी प्रकार एक ओर शरणार्थी पर्वतों का समूह विश्राम कर रहा है तो दूसरी ओर प्रलयकालीन संवतर्क आदि बादलों के साथ समुद्र के अन्दर छिप कर रहने वाली अग्नि (वडवाग्नि) रहती है। एक समुद्र में उन सबका एक साथ निवास देखकर आश्चर्य होता है कि समुद्र का शरीर कितना विस्तृत, ऊर्जस्वी तथा भार धारण करने वाला है।

समुद्र के उदाहरण से कवि महापुरुषों के उदार तथा शरणागतवत्सल स्वभाव की ओर संकेत कर रहे हैं। महापुरुष सभी को आश्रय देकर बिना किसी भेदभाव के उनकी सहायता करने को तत्पर रहते हैं। स्वयं कष्ट सहकर भी वे शरणागतों की रक्षा करते हैं। तभी तो वे महापुरुष कहलाते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में **पृथ्वी** छन्द तथा **अप्रस्तुतप्रशंसा** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–उदारचरिताः सज्जनाः समुद्रवत् सर्वेषामाश्रयदातारः भवन्ति। ते समभावेन सर्वान् उपकुर्वन्ति।

व्याकरणात्मक टिप्पणी

स्वपिति=√स्वप्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

तदीयद्विषाम्=तदीयाश्च ते द्विषश्च ते, तेषाम् ; कर्मधारय समास।

शरणार्थिनाम्=शरणम् अर्थयन्ते ये ते, तेषाम् ; बहुव्रीहि समास।

शिखरिणाम्=शिखराणि सन्ति अस्य इति, तेषाम् ; बहुव्रीहि समास।

शेरते=√शी, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

समस्तसंवर्तकैः=समस्ताश्च ते संवर्तकाश्चेति , तैः ; कर्मधारय समास।

विततम्=वि उपसर्ग √तन्+क्त प्रत्यय।

ऊर्जितम्=ऊर्जा शब्द+इतच् प्रत्यय।

भरसहम्=भरस्य सहम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

वडवानलः=वडवायाः अनलः ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

छात्र ध्यान दें कि 'सह' शब्द के योग में यहां 'समस्तसंवर्तकै:' शब्द में तृतीया विभक्ति प्रयुक्त हुई है।

सन्धिविच्छेद

इतस्तदीय द्विषामितश्च=इत:+तदीय:+द्विषाम्+इत:+च।

इतोऽपि=इत:+अपि।

समस्तसंवर्तकैरहो!=समस्तसंवर्तकै:+अहो!

सिन्धोर्वपु:=सिन्धो:+वपु:

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनम्।
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय प्रश्रयं
कीर्तिं पालय दु:खिते कुरु दयामेतत्सतां लक्षणम्।। 76।।

अन्वय:–तृष्णां छिन्धि क्षमां भज मदं जहि पापे रतिं मा कृथा: सत्यं ब्रूहि साधुपदवीम् अनुयाहि विद्वज्जनं सेवस्व मान्यान् मानय विद्विष: अपि अनुनय प्रश्रयं प्रख्यापय कीर्तिं पालय दु:खिते दयां कुरु एतत् सतां लक्षणम्।

प्रसग:–सज्जनों के लक्षण प्रस्तुत करते हुए कवि इस पद्य में बताते हैं–

शब्दार्थ–[तृष्णाम्] लालच को। [छिन्धि] छोड़ दो। [क्षमाम्] सहनशीलता को। [भज] धारण करो। [मदम्] घमण्ड को। [जहि] छोड़ दो। [पापे] पाप में। [रतिम्] प्रेम। [मा कृथा:] मत करो। [सत्यम्] सच। [ब्रूहि] बोलो। [साधुपदवीम्] सज्जनों के मार्ग का। [अनुयाहि] अनुकरण करो। [विद्वज्जनम्] विद्वानों की। [सेवस्व] सेवा करो। [मान्यान्] सम्मानीय लोगों का। [मानय] आदर-सम्मान करो। [विद्विष:] शत्रुओं को। [अपि] भी। [अनुनय] प्रसन्न करो। [प्रश्रयम्] विनम्रता को। [प्रख्यापय] प्रकट करो। [कीर्त्तिम्] यश को। [पालय] पालन करो। [दु:खिते] दु:खियों पर। [दयां कुरु] दया करो। [एतत्] यह। [सताम्] सज्जनों का। [लक्षणम्] लक्षण है।

सरलार्थ–लालच को छोड़ो, सहनशीलता को धारण करो, अभिमान का त्याग करो, पाप कर्म में प्रेम मत रखो, सत्य बोलो, सज्जनों के मार्ग का अनुसरण करो, विद्वानों की सेवा करो, पूजनीयों का सम्मान करो, शत्रुओं को भी मनाओ, विनम्रता दिखाओ, यश की रक्षा करो तथा दीन-दु:खियों पर दया करो–यही सज्जनों का लक्षण है।

व्याख्या–सज्जनों के स्वभाव का बहुत सुन्दर चित्रण किया गया है यहां। कवि कहते हैं कि यदि तुम भी सज्जन बनना चाहते हो, तो अधिक धन-प्राप्ति के लोभ की भावना को छोड़ दो, क्षमाशीलता को धारण करो, गर्व मत करो, पापाचरण में रुचि मत रखो, सदा सत्य

बोलो, सन्मार्ग का अनुसरण करो, विद्वज्जनों की सेवा करो, पूज्यजनों का सम्मान करो, शत्रुओं को भी सदा प्रसन्न रखने का प्रयत्न करो, सभी के प्रति विनम्रता प्रदर्शित करो, अपने यश की रक्षा करो तथा दीन-दु:खियों के प्रति दया-भावना रखते हुए उनकी सहायता करो।

यद्यपि इन सद्गुणों का आचरण अत्यंत कठिन है तथापि सज्जन का पद तथा यश प्राप्त करना भी अत्यंत कठिन है। अत: मानव जीवन को सफल बनाने के लिए मनुष्य को इन दुर्लभ गुणों का आचरण करना चाहिए।

प्रस्तुत श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द तथा दीपक अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:-सज्जन: स: एव कथ्यते य: तृष्णां छिनत्ति, क्षमां भजते, गर्वं नानुभवति, पापे प्रीतिं न करोति, सत्यं वदति, सन्मार्गमनुकरोति, विद्वज्जनं सेवते, पूज्यान् पूजयति, शत्रूनपि प्रसादयति, विनयं प्रकटयति, यश: पालयति, दीनेषु दयां च करोति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

छिन्धि=√छिद्, लोट लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

भज=√भज्, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

जहि=√हा, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

ब्रूहि=√ब्रू, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

अनुयाहि=अनु उपसर्ग √या, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

साधुपदवीम्=साधूनाम् पदवी, ताम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

सेवस्व=√सेव् आत्मनेपद, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

विद्वज्जनम्=विद्वान् एव जन:, तम् ; कर्मधारय समास।

मान्यान्=√मन्+ण्यत् प्रत्यय।

मानय=√मन्+णिच्, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

अनुनय=अनु उपसर्ग √नी, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

प्रख्यापय=प्र उपसर्ग √ख्या+णिच्, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

पालय=√पाल्, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

दु:खिते=दु:ख शब्द+इतच् प्रत्यय।

कुरु=√कृ, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद

ब्रूह्यनुयाहि=ब्रूहि+अनुयाहि।

विद्विषोऽप्यनुनय=विद्विष:+अपि+अनुनय।

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः पूरयन्तः।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः।। 77।।

अन्वय:–मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णाः उपकारश्रेणिभिः त्रिभुवनं प्रीणयन्तः परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं निजहृदि विकसन्तः सन्तः कियन्तः सन्ति।

प्रसंग–'सज्जन संसार में मिलने दुर्लभ हैं'–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[मनसि] मन में। [वचसि] वाणी में। [काये] शरीर में। [पुण्यपीयूषपूर्णाः] पुण्य कर्म रूपी अमृत से भरे हुए। [उपकारश्रेणिभिः] उपकारों के द्वारा। [त्रिभुवनम्] तीनों लोकों को। [प्रीणयन्तः] प्रसन्न करते हुए। [परगुणपरमाणून्] दूसरों के अत्यंत सूक्ष्म गुणों को। [पर्वतीकृत्य] पर्वत के समान बनाकर। [निजहृदि] अपने हृदय में। [नित्यम्] हमेशा। [विकसन्तः] प्रसन्न होने वाले। [सन्तः] सज्जन। [कियन्तः] कितने। [सन्ति] हैं?

सरलार्थ–मन, वचन और शरीर में पुण्यकर्म रूपी अमृत से भरे हुए अपने उपकारों से तीनों लोगों को प्रसन्न करने वाले, दूसरों के परमाणु जैसे अत्यंत छोटे गुणों को पर्वत के समान विशाल बनाकर अपने हृदय में नित्य प्रसन्न होने वाले सज्जन इस संसार में कितने हैं?

व्याख्या–कवि यहाँ बताना चाहते हैं कि जो मन, वाणी और शरीर से पुण्यकर्म ही करते हैं, जो अपने परोपकारपूर्ण कार्यों से तीनों लोकों को प्रसन्न करते हैं, जो दूसरों के अत्यंत छोटे से उपकार को खूब बढ़ा-चढ़ाकर दूसरों के सामने प्रस्तुत करते है और अपने मन में अत्यंत प्रसन्न होते हैं, ऐसे सज्जन संसार में बहुत कम होते हैं। ये गुण मिलने अत्यंत दुर्लभ हैं तथा इन गुणों से युक्त सज्जन भी संसार में विरले ही होते हैं। ऐसे दुर्लभ गुणों से विभूषित सज्जनों की संख्या बहुत कम होती है।

प्रस्तुत श्लोक में **मालिनी** छन्द तथा **अनुप्रास** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–मनसा, वचसा, कर्मणा च जनानाम् उपकारकारिणः, अन्येषां सूक्ष्मानपि गुणान् विशदीकृत्य हृदि प्रसन्नतामनुभवन्तः सज्जनाः संसारे स्वल्पसंख्यकाः एव भवन्ति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

पुण्यपीयूषपूर्णाः=पुण्यम् एव पीयूषम्, तेन पूर्णाः ; तृतीया तत्पुरुष समास।

त्रिभुवनम्=त्रयाणां भुवनानां समाहार: ; द्विगु समास।

प्रीणयन्त:=√प्रीञ्+णिच्+शतृ प्रत्यय, पु°, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन।

परगुणपरमाणून्=परेषां गुणानां परमाणव:, तान् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

पर्वतीकृत्य=पर्वत शब्द+च्वि प्रत्यय+√कृ+ल्यप् प्रत्यय।

निजहृदि=निजस्य हृदि ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

विकसन्त:=वि उपसर्ग √कस्+शतृ प्रत्यय, पु°, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन।

सन्ति=√अस्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

सन्धि-विच्छेद

पुण्यपीयूषपूर्णास्त्रिभुवनम्=पुण्यपीयूषपूर्णा:+त्रिभुवनम्।

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवा:
न भेजिरे भीमविषेण भीतिम्।
सुधां विना न प्रययुर्विरामं
न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीरा:।। 78।।

अन्वय:–देवा: महार्है: रत्नै: न तुतुषु: भीमविषेण भीतिम् न भेजिरे, सुधां विना विरामम् न प्रययु: धीरा: निश्चितार्थात् न विरमन्ति।

प्रसंग–'धैर्यशाली महापुरुष अपने निश्चित लक्ष्य को प्राप्त किए बिना शान्ति से नहीं बैठते'–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[देवा:] देवता लोग। [महार्है:] बहुमूल्य [रत्नै:] रत्नों से। [न तुतुषु:] सन्तुष्ट नहीं हुए। [भीमविषेण] भयंकर विष से। [भीतिम्] भय को। [न भेजिरे] प्राप्त नहीं किया। [सुधां विना] अमृत के बिना। [विरामम्] विश्राम। [न प्रययु:] को प्राप्त नहीं हुए। [धीरा:] धैर्यशाली लोग। [निश्चितार्थात्] निश्चित लक्ष्य से (पहले)। [न विरमन्ति] नहीं विराम लेते।

सरलार्थ–देवता लोग बहुमूल्य रत्नों को प्राप्त करके भी सन्तुष्ट नहीं हुए, भयानक विष को पाकर भी वे भयभीत नहीं हुए तथा अमृत को प्राप्त किए बिना वे शांति से नहीं बैठे (क्योंकि) धैर्यशाली लोग अपने निश्चित लक्ष्य को पूरा किए बिना नहीं रुकते।

व्याख्या–धैर्यशाली लोगों के स्वभाव का बहुत सुंदर रूप से चित्रण किया गया है यहाँ। समुद्र मन्थन करके अमृत को प्राप्त करना देवताओं का लक्ष्य था। अत: बहुमूल्य रत्नों से वे संतुष्ट नहीं हुए और भयंकर विष से भी वे भयभीत नहीं हुए, अमृत की प्राप्ति तक वे निरन्तर उद्यमशील रहे और अमृत को प्राप्त करके ही वे शान्ति से बैठे। स्वभाव से ही धैर्यशाली लोग अपने लक्ष्य को प्राप्त करके ही चैन से बैठते हैं और अपने प्रयोजन की

सिद्धि से पूर्व वे विश्राम नहीं लेते। इस प्रकार धीर पुरुष अपने आरब्ध कार्य को पूर्ण करके ही चैन लेते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में उपजाति छन्द तथा अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–देवा: बहुमूल्यै: रत्नै: सन्तुष्या: न जाता:, घातकगरलेनापि ते संत्रस्ता: न भूता: किन्तु अमृतप्राप्ते: पूर्वं तै: प्रयास: न त्यक्त:। एवं धीरशीला: पुरुषा: स्वभावत: एव फलोत्पत्तिं प्राप्यैव विश्रामं लभन्ते।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

महार्है:=महान् अर्ह: येषां ते, तै: बहुव्रीहि समास।

तुतुषु:=√तुष्, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

भीमविषेण=भीम: चासौ विष:, तेन ; कर्मधारय समास।

भीतिम्=√भी+क्तिन् प्रत्यय।

भेजिरे=√भज्, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

प्रययु:=प्र उपसर्ग √या, लिट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

निश्चितार्थात्=निश्चित: अर्थ:, तस्मात् ; कर्मधारय समास।

विरमन्ति=वि उपसर्ग √रम्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

छात्र ध्यान दें कि 'विना' शब्द के योग में 'सुधाम्' में द्वितीया विभक्ति लगी है।

सन्धि-विच्छेद

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न=रत्नै:+महार्है:+तुतुषु:+न।

प्रययुर्विरामम्=प्रययु:+विरामम्।

निश्चितार्थाद्विरमन्ति=निश्चितार्थात्+विरमन्ति।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्यायात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥ 79॥

अन्वय:–यदि नीतिनिपुणा: निन्दन्तु वा, स्तुवन्तु वा, लक्ष्मी: समाविशतु वा, यथेष्टम् गच्छतु वा, अद्य एव मरणम् अस्तु, युगान्तरे वा, धीरा: न्याय्यात् पथ: पदम् न प्रविचलन्ति।

प्रसंग–'धैर्यशाली पुरुष न्याय के मार्ग से एक कदम भी पीछे नहीं हटते, वे न्याय के मार्ग का ही सदा अनुसरण करते हैं'–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[नीतिनिपुणा:] नीति में निपुण लोग। [निन्दन्तु] निन्दा करें। [यदि वा] अथवा। [स्तुवन्तु] प्रशंसा करें। [लक्ष्मी:] धन-सम्पत्ति। [समाविशतु] समीप आए। [वा] अथवा। [यथेष्टम्] इच्छानुसार। [गच्छतु] चली जाए। [अद्य एव] आज ही। [मरणम्] मृत्यु। [अस्तु] हो जाए। [युगान्तरे वा] अथवा एक युग के बाद हो। [धीरा:] धैर्यशाली पुरुष। [न्याय्यात्] न्यायपूर्ण। [पथ:] मार्ग से। [पदम् अपि] एक कदम भी। [न प्रविचलन्ति] विचलित नहीं होते।

सरलार्थ–नीति में निपुण लोग चाहे निन्दा करें या प्रशंसा करें, धन सम्पत्ति पास आए या इच्छानुसार चली जाए और मृत्यु आज हो जाए या एक युग के बाद हो लेकिन धैर्यशाली पुरुष न्यायपूर्ण मार्ग से एक कदम भी विचलित नहीं होते।

व्याख्या–धैर्यशाली लोगों के स्वभाव का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं कि धीर पुरुष न्याय के आचरण से एक कदम भी पीछे नहीं हटते चाहे नीतिशास्त्र के विद्वान् उनकी प्रशंसा करें या निन्दा, चाहे उन्हें धन की प्राप्ति हो या हानि हो या चाहे आज ही उनकी मृत्यु हो जाए या वे अतीव दीर्घ आयु को प्राप्त करने वाले हों। इस प्रकार अपने जीवन को खतरे में डालकर भी वे अपने न्यायपूर्ण आचरण को दूषित नहीं होने देते।

प्रस्तुत श्लोक में वसन्ततिलका छन्द तथा उदात्त अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–धीरा: जना: निन्दां स्तुतिं वा नापेक्षन्ते। लक्ष्म्या: प्राप्ते: विनाशस्य वा चिन्तापि तेषु न विद्यते। एवमेव ते जीवनमरणयो: अपि विषये न चिन्तयन्ति किन्तु न्यायमार्गं ते कदापि न त्यजन्ति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

नीतिनिपुणा:=नीतौ निपुणा: ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

निन्दन्तु=√निन्द्, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

स्तुवन्तु=√स्तु, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

समाविशतु=सम्+आ उपसर्ग √विश् लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

यथेष्टम्=इष्टम् अनतिक्रम्य ; अव्ययीभाव समास।

गच्छतु=√गम्, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

मरणम्=√मृ+ल्युट् प्रत्यय।

युगान्तरे=अन्य: युग:, युगान्तर: ; तस्मिन्, नित्य समास।

अस्तु=√अस्, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

प्रविचलन्ति=प्र+वि उपसर्ग √चल्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

न्याय्यात्=न्याय शब्द+यत् प्रत्यय, पञ्चमी विभक्ति, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद

अद्यैव=अद्य+एव।

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणा-
न्मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति।। 80।।

अन्वयः-यस्य अङ्गे अखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति तस्य वह्निः जलायते, जलनिधिः कुल्यायते, तत्क्षणात् मेरुः स्वल्पशिलायते, मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते, व्यालः माल्यगुणायते, विषरसः पीयूषवर्षायते।

प्रसंग-सदाचार मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ गुण है, सदाचारी व्यक्ति ही दुस्साध्य कार्यों को भी सरलता से पूर्ण कर लेता है-इस भाव का प्रतिपादन करते हुए कवि कहता है-

शब्दार्थ-[यस्य] जिसके। [अंगे] अंग में। [अखिललोकवल्लभतमम्] सब लोगों को प्रिय लगने वाला। [शीलम्] सदाचार। (गुणः)। [समुन्मीलति] सुशोभित है। [तस्य] उसके। [पुरः] सामने। [वह्निः] अग्नि। [जलायते] (शीतल) जल बन जाती है। [जलनिधिः] समुद्र। [तत्क्षणात्] उसी समय। [कुल्यायते] छोटी सी नहर बन जाता है। [मेरुः] सुमेरु पर्वत। [स्वल्पशिलायते] छोटी सी शिला बन जाता है। [मृगपतिः] सिंह। [सद्यः] तुरन्त। [कुरङ्गायते] हिरण बन जाता है। [व्यालः] सांप। [माल्यगुणायते] पुष्पमाला बन जाता है। [विषरसः] विष का रस। [पीयूषवर्षायते] अमृत की वर्षा करने वाला बन जाता है।

सरलार्थ-जिस मनुष्य के शरीर में सारे संसार को प्रिय लगने वाला गुण सदाचार विद्यमान रहता है उसके लिए अग्नि शीतल जल का रूप धारण कर लेती है, समुद्र छोटी सी नहर बन जाता है, सुमेरु तत्काल ही छोटी सी शिला बन जाता है, सिंह तुरन्त हिरण हो जाता है, सांप पुष्पमाला तथा विष भी अमृत की धारा बन जाता है।

व्याख्या-सदाचार सबसे महत्वपूर्ण तथा सर्वश्रेष्ठ गुण है। सदाचारी पुरुष कठिन से कठिन कार्यों को भी सरलता से सम्पन्न कर लेता है-इस विषय का विवेचन करते हुए कवि कहता है कि सदाचार सबको प्रिय लगने वाला गुण है। उसके सदाचरण के प्रभाव से सदाचारी पुरुष के लिए अग्नि ज्वलनशील न रहकर शीतलता प्रदान करने वाला जल बन जाता है, दुस्तर समुद्र गम्भीर तथा भयानक स्वरूप को त्यागकर छोटी सी नहर जैसा हो जाता है, अत्यंत उन्नत शिखर मेरु छोटी सी चट्टान बन जाता है, पशुराज सिंह-हिंसक सिंह न रहकर अहिंसक मृग के समान व्यवहार करने वाला बन जाता है, भयावह विषधर सर्प

पुष्पमाला की तरह आकर्षक हो जाता है तथा प्राण हरने वाला विष का रस प्राण देने वाला, अमृत की वृष्टि करने वाला बन जाता है। कहने का तात्पर्य यही है कि सदाचारी मनुष्य का श्रेष्ठ आचरण शीघ्र ही उसके कष्टों का नाश करके उसे आनन्द प्रदान करने वाला होता है। शीलगुणसम्पन्न मनुष्य के लिए कोई भी पदार्थ, कोई भी मनुष्य कष्टदायक नहीं होता, सभी उसको सहयोग देने के लिए उद्यत रहते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द तथा उपमा अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–सर्वजनप्रियं सदाचारगुणं यस्य वर्तते तस्य नरस्य सर्वे दुःखहेतवः सुखहेतवः जायन्ते तद्यथा–तस्य कृते अग्निः शीतलं जलमिव प्रतीयते, समुद्रः कुल्या इव, सिंहः हरिणः इव, सर्पः माला इव, विषम् च अमृतम् इव जायते।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

जलनिधिः=जलस्य निधिः ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

मृगपतिः=मृगाणां पतिः ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

विषरसः=विष एव रसः ; कर्मधारय समास।

समुन्मीलति=सम्+उत् उपसर्ग √मील्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद

वह्निस्तस्य=वह्निः+तस्य।

तत्क्षणान्मेरुः=तत्क्षणात्+मेरुः।

व्यालो माल्यगुणायते=व्यालः+माल्यगुणायते।

यस्याङ्गेऽखिल॰=यस्य+अङ्गे+अखिल॰।

छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः।
इति विमृशन्तः सन्तः सन्तप्यन्ते न विप्लुता लोके।। 81।।

अन्वयः–तरुः छिन्नः सन् अपि पुनः रोहति चन्द्रः क्षीणः अपि पुनः उपचीयते इति विमृशन्तः सन्तः लोके विप्लुताः अपि न संप्तप्यन्ते।

प्रसंग–'सज्जन आपद्ग्रस्त होते हुए भी व्याकुल नहीं होते'–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[छिन्नः अपि] कटा हुआ भी। [तरुः] वृक्ष। [रोहति] उग जाता है। [क्षीणः अपि] घटा हुआ भी। [चन्द्रः] चन्द्रमा। [पुनः] दुबारा। [उपचीयते] वृद्धि को प्राप्त कर लेता है। [इति] ऐसा। [विमृशन्तः] सोचते हुए। [सन्तः] सज्जन। [दुःखेषु] आपत्तियों में। [न संतप्यन्ते] दुःखी नहीं होते।

सरलार्थ–कटा हुआ वृक्ष भी उग जाता है, घटा हुआ चन्द्रमा भी वृद्धि को प्राप्त कर लेता है–ऐसा सोचते हुए सज्जन आपत्तिग्रस्त होते हुए भी दु:खी नहीं होते।

व्याख्या–सुख और दु:ख मानव जीवन के अभिन्न पहलू हैं। सुख के बाद दु:ख और दु:ख के बाद सुख आते ही रहते हैं किन्तु सज्जन आपत्तियों से विचलित नहीं होते। जिस प्रकार काटे जाने पर वृक्ष पुन: धीरे-धीरे बढ़ने लगता है तथा चन्द्रमा कृष्णपक्ष में क्षीण होता जाता है और शुक्लपक्ष में बढ़ जाता है–ऐसा समझकर महापुरुष विपत्तियों से घिरकर भी दु:खी नहीं होते क्योंकि वे जानते हैं कि धैर्यपूर्ण आचरण से दु:ख के बाद सुख की प्राप्ति अवश्य होती है।

प्रस्तुत श्लोक में आर्या छन्द तथा दृष्टान्त अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–यथा छिन्नोऽपि वृक्ष: पुन: प्रादुर्भवति, यथा क्षीण: चन्द्र: पुन: वृद्धिमधिगच्छति एवं विचार्य महापुरुषा: आपत्सु धैर्यं न त्यजन्ति, ते आपत्सु सन्तप्ता न भवन्ति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

छिन्न:=√छिद्+क्त प्रत्यय।

रोहति=√रुह्+लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

क्षीण:=√क्षि+क्त प्रत्यय।

उपचीयते=उप उपसर्ग √चि+कर्मणि यक्, आत्मनेपद, लट् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन।

विमृशन्त:=वि उपसर्ग √मृश्+शतृ प्रत्यय, पुं॰, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन।

संतप्यन्ते=सम् उपसर्ग √तप्+कर्मणि यक्, आत्मनेपद, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

सन्धि-विच्छेद

छिन्नोऽपि=छिन्न:+अपि।

क्षीणोऽप्युपचीयते=क्षीण:+अपि+उपचीयते।

पुनश्चन्द्र:=पुन:+चन्द्र:।

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो
ज्ञानस्योपशम: श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्यय:।
अक्रोधस्तपस: क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम्।। 82।।

अन्वय:–ऐश्वर्यस्य सुजनता, शौर्यस्य वाक्संयम:, ज्ञानस्य उपशम:, श्रुतस्य विनय:,

वित्तस्य पात्रे व्ययः, तपसः अक्रोधः, प्रभवितुः क्षमा, धर्मस्य निर्व्याजता विभूषणम्। सर्वेषाम् अपि परम् भूषणम् सर्वकारणम् इदम् शीलम् (अस्ति)।

प्रसंग–सच्चरित्र मनुष्य का सबसे महत्वपूर्ण गुण है–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[ऐश्वर्यस्य] समृद्धि का। [सुजनता] सज्जनता। [शौर्यस्य] शूरवीरता का। [वाक्संयमः] वाणी पर संयम। [ज्ञानस्य] ज्ञान का। [उपशमः] शान्ति। [श्रुतस्य] वेदशास्त्र का। [विनयः] विनम्रता। [वित्तस्य] धन का। [पात्रव्ययः] सत्पात्र में खर्च करना। [तपसः] तपस्या का। [अक्रोधः] क्रोध न करना। [प्रभवितुः] सामर्थ्यवान् का। [क्षमा] क्षमा करना। [धर्मस्य] धर्म का। [निर्व्याजता] निश्छलता। [विभूषणम्] आभूषण है। [सर्वेषाम् अपि] सब से भी। [परम् भूषणम्] श्रेष्ठ या बड़ा आभूषण है। [सर्वकारणम्] सबका कारणरूप। [इदम् शीलम्] यह सदाचार है।

सरलार्थ–समृद्धि का आभूषण सज्जनता है, शौर्य का वाणी पर नियन्त्रण, ज्ञान का शान्ति, वेदशास्त्र अध्ययन का विनम्रता, धन का उचित पात्र को दान देना, तपस्या का क्रोध न करना, समर्थ पुरुष का क्षमा तथा धर्म का विभूषण निष्कपटता है किन्तु इन सब आभूषणों का मूल – सबसे श्रेष्ठ आभूषण मनुष्य का सदाचार है।

व्याख्या–सच्चरित्र मनुष्य का सबसे महत्वपूर्ण गुण है–इस भाव को अभिव्यक्त करते हुए कवि कहते हैं कि धन-सम्पत्ति की शोभा मनुष्य की सज्जनता से होती है, पराक्रम की शोभा वाणी के संयम से, ज्ञान की शोभा मन की शान्ति से, शास्त्रों के श्रवण की शोभा विनम्रता के आचरण से, धन की शोभा योग्य पात्र को दान देने से, तपस्या की क्रोध न करने से, समर्थ व्यक्ति की क्षमा से तथा धर्म की शोभा निष्कपट आचरण से होती है किन्तु इन सबसे उत्कृष्ट गुण सदाचरण है। सदाचरण इन सब गुणों का मूल कारण है अर्थात् यदि मनुष्य का आचरण पवित्र है तब तो उसकी शोभा है यदि उसका आचरण ही पवित्र नहीं तो ये गुण उसमें होते हुए भी उसका कोई महत्व नहीं। अतः सबसे पहले मनुष्य को अपने आचरण पर ध्यान देना चाहिए।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **दीपक** अलंकार है।

संस्कृत भावार्थः–ऐश्वर्यं, शूरत्वं, ज्ञानं, विनयः, क्षमा, धर्मः आदयः सर्वे गुणाः शीलेन एव शोभन्ते, अतः सर्वैः जनैः सदा शीलमेव आचरणीयम्।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

विभूषणम्=वि उपसर्ग √भूष्+ल्युट् प्रत्यय।

सुजनता=शोभनः जनः सुजनः, तल् प्रत्यय+टाप् प्रत्यय।

वाक्संयमः=वाचि संयमः ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

ज्ञानस्य=√ज्ञा+ल्युट् प्रत्यय।

श्रुतस्य=√श्रु+क्त प्रत्यय।

अक्रोधः=न क्रोधः इति ; नञ् तत्पुरुष समास।

प्रभवितुः=प्र उपसर्ग √भू+तृच् प्रत्यय।

निर्व्याजता=निर्गतः व्याजः यस्मात् सः निर्व्याजः+तल्+टाप् प्रत्यय।

सर्वकारणम्=सर्वेषां कारणम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

सन्धि-विच्छेद

वाक्संयमो ज्ञानस्योपशमः=वाक्संयमः+ज्ञानस्य+उपशमः।

विनयो वित्तस्य=विनयः+वित्तस्य।

अक्रोधस्तपसः=अक्रोधः+तपसः।

प्रभवितुर्धर्मस्य=प्रभवितुः+धर्मस्य।

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा
यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
कंकोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः।। 83।।

अन्वयः–तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा किं यत्र आश्रिताः तरवः ते एव तरवः (तिष्ठन्ति) मलयमेव मन्यामहे यदाश्रयेण कङ्कोलनिम्बकुटजाः अपि चन्दना स्युः।

प्रसंग–'गुणवान् सज्जन अपने सम्पर्क में आने वाले गुणहीनों को भी अपने समान गुणवान् बना देते हैं'–इस विषय का निरूपण करते हुए महाकवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[तेन] उससे। [हेमगिरिणा] स्वर्ण पर्वत से। [रजताद्रिणा] चांदी के पर्वत से। [वा] अथवा। [किम्] क्या प्रयोजन। [यत्र] जहां। [आश्रिताः] आश्रित। [तरवः] वृक्ष। [ते एव] वे ही। [तरवः] वृक्ष हैं। [मलयम्] मलपर्वत को। [एव] ही। [मन्यामहे] हम मानते हैं। [यत् आश्रयेण] जिसका आश्रय लेने से। [कङ्कोलनिम्बकुटजाः] कङ्कोल, नीम तथा कुटज के वृक्ष। [अपि] भी। [चन्दनाः] चन्दन। [स्युः] हो जाते हैं।

सरलार्थ–उस स्वर्ण पर्वत अथवा चांदी के पर्वत से क्या लाभ जहां लगे हुए वृक्ष साधारण वृक्ष ही रहते हैं। हम तो उस मलयपर्वत को ही श्रेष्ठ मानते हैं जिसका आश्रय लेने से कङ्कोल, नीम और कुटज के वृक्ष भी चन्दन हो जाते हैं।

व्याख्या–सुमेरु स्वर्ण पर्वत तथा कैलाश रजत (चांदी का) पर्वत कहलाता है किन्तु सुमेरु और कैलाश के स्वर्ण तथा रजत पर्वत कहलाने से क्या लाभ जब वहां उगे हुए कंकोल, नीम तथा कुटज नामक वृक्ष वैसे ही बने रहते हैं, उनमें किसी प्रकार की सुगन्ध आदि नहीं आती। मलय पर्वत निश्चय ही मूल्यवान् है क्योंकि उसका आश्रय लेने से कङ्कोल, नीम तथा कुटज वृक्ष चन्दन जैसे सुगन्धित हो जाते हैं, इन वृक्षों का मूल्य बढ़ जाता है। इस प्रकार कवि यह बताना चाहता है कि मनुष्य वही प्रशंसनीय है जो अपनी संगति से कम गुण वाले या निर्गुण व्यक्ति को भी गुणवान् बना दे। सज्जन स्वभाव से ही विनम्र और परोपकारी होते हैं, अपने आश्रय में आने वाले लोगों को वे गुणशाली बनाने का प्रयत्न करते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में **वसन्ततिलका** छन्द तथा **व्यतिरेक** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–सुवर्णमयेन मेरुपर्वतेन, रजतमयेन कैलासपर्वतेन वा को लाभः यत्राश्रिताः वृक्षाः सुवर्णमयाः रजतमयाः वा न भवन्ति। मलयाचलः धन्यः एव यत्र स्थिताः कङ्कोलादयः वृक्षाः चन्दनवृक्षाणां सम्पर्केण सुगन्धिताः जायन्ते। एवमेव ते एव गुणशीलाः पुरुषाः धन्याः येषां संसर्गेण गुणहीनाः अपि गुणिनः भवन्ति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

हेमगिरिणा=हेम्नः गिरिः, तेन ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

रजताद्रिणा=रजतस्य अद्रिः, तेन ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

आश्रिताः=आ उपसर्ग √श्रि+क्त प्रत्यय।

मन्यामहे=√मन् आत्मनेपद, लट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन।

कङ्कोलनिम्बकुटजाः=कङ्कोलाः च निम्बाः च कुटजाः च इति, द्वन्द्व समास।

स्युः=√अस्, विधिलिङ् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

यदाश्रयेण=यस्य आश्रयः, तेन, षष्ठी तत्पुरुष समास।

छात्र ध्यान दें ('किम्'='क्या लाभ' अर्थ को प्रकट करने के लिए) किम् शब्द के प्रयोग के कारण 'तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा' शब्दों में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

सन्धिविच्छेद

यत्राश्रिताः=यत्र+आश्रिताः।

तरवस्तरवस्त एव=तरवः+तरवः+ते+एव।

कङ्कोलनिम्बकुटजा अपि=कङ्कोलनिम्बकुटजाः+अपि।

क्वचित्पृथ्वीशय्यः क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः
क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्।। 84।।

अन्वयः–क्वचित् पृथ्वीशय्यः, क्वचित् अपि पर्यङ्कशयनः, क्वचित् शाकाहारः, क्वचित् शाल्योदनरुचिः, क्वचित् कन्थाधारी, क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरः। कार्यार्थी मनस्वी सुखं वा दुखं वा न गणयति।

प्रसंग–'कार्य की सफलता चाहने वाला मनस्वी अपने कर्त्तव्य का पालन करता हुआ सुख दुःख की परवाह नहीं करता'–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

शब्दार्थ–[क्वचित्] कहीं। [पृथ्वीशय्यः] पृथ्वी पर सोता है। [अपि च] और [क्वचित्] कहीं। [पर्यङ्कशयनः] पलंग पर सोता है। [क्वचित्] कहीं। [शाकाहारः] शाक (साग सब्जी) खाता है। [अपि च] और भी। [क्वचित्] कहीं। [शाल्योदनरुचिः] बढ़िया चावल का भात खाने की इच्छा रखता है। [क्वचित्] कहीं। [कन्थाधारी] फटे पुराने चिथड़े धारण करता है। [अपि च] और। [क्वचित्] कहीं। [दिव्याम्बरधरः] बहुमूल्य वस्त्रों को धारण करता है। [कार्यार्थी] अपना कार्य पूरा करने की इच्छा वाला। [मनस्वी] मनस्वी पुरुष। [दुःखम्] दुःख। [च] और [सुखम्] सुख। [न गणयति] नहीं गिनता।

सरलार्थ–कार्य को पूर्ण करने वाला मनस्वी व्यक्ति कभी पृथ्वी पर सोता है तो कभी पलंग पर, कभी वह साग-सब्जी खाता है, कभी बढ़िया चावल खाता है, कभी वह फटे-पुराने चिथड़े पहनता है तो कभी बहुमूल्य वस्त्र धारण करता है–इस प्रकार वह दुःख सुख की परवाह नहीं करता।

व्याख्या–अपने लक्ष्य की प्राप्ति में उद्यमशील मनस्वी पुरुष कभी केवल भूमि पर शयन करता है। उसे इस बात की चिन्ता नहीं होती कि वह कठोर भूमि पर सो रहा है अथवा सुन्दर शय्या, पलंग आदि पर सो रहा हैं। उसे भोजन की भी चिन्ता नहीं रहती। वह साग सब्जी खाकर भी संतोष कर लेता है, बढ़िया-महंगे चावल खाकर भी अभिमान नहीं करता। इसी प्रकार फटे-पुराने-चिथड़े या बहुमूल्य रेशमी वस्त्र भी उसकी कार्य-सिद्धि में बाधक नहीं बनते। उसे केवल अपने कार्य की सफलता की चिन्ता रहती है। किसी भी प्रकार की असुविधाएं उसकी कार्य सिद्धि में बाधक नहीं बनती। दुःख या सुख हर प्रकार की स्थिति का वह धैर्यपूर्वक सामना करता है।

प्रस्तुत श्लोक में शिखरिणी छन्द तथा समुच्चय अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–कार्यसिद्धौ प्रवृत्तः मनस्वी नरः सुखं दुःखं वा न गणयति। कार्यसाधनाय सः यथाकालं भूमौ बहुमूल्यशय्यायां वा स्वपिति, कदाचित् सः नीरसं कदाचित् च स्वादु भोजनं वा खादति। एवमेव समयानुसारं सः जीर्णं बहुमूल्यं वा वस्त्रं धारयति। स्वकार्ये साफल्यमेव वाञ्छति धीरः पुरुषः।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

पृथ्वीशय्यः=पृथ्वी एव शय्या यस्य सः ; बहुव्रीहि समास।

पर्यङ्कशयनः=पर्यङ्के शयनं यस्य सः ; बहुव्रीहि समास।

शाकाहारः=शाकः आहारः यस्य सः ; बहुव्रीहि समास।

शाल्योदनरुचिः=शाल्योदने रुचिः यस्य सः ; बहुव्रीहि समास।

कन्थाधारी=कन्थाः धारयति इति ; उपपद समास।

दिव्याम्बरधरः=दिव्यानि अम्बराणि धरतीति ; तत्पुरुष समास।

कार्यार्थी=कार्येण अर्थी इति ; तृतीया तत्पुरुष समास।

गणयति=√गण्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद

क्वचिदपि=क्वचित्+अपि।

क्वचिच्छाकाहारः=क्वचित्+शाकाहारः।

दिव्याम्बरधरो मनस्वी=दिव्याम्बरधरः+मनस्वी।

पातितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कन्दुकः।
प्रायेण साधुवृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः ।। 85 ।।

अन्वयः–कराघातैः पातितः अपि कन्दुकः उत्पतति एव प्रायेण साधुवृत्तानाम् विपत्तयः अस्थायिन्यः।

प्रसंग–सज्जनों की आपत्तियों को क्षणकालीन बताते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[कराघातैः] हाथों के प्रहार से। [पातितः] गिराया हुआ। [अपि] भी। [कन्दुकः] गेंद। [उत्पतति एव] ऊपर उठ जाती है। [प्रायेण] अधिकतर। [साधु-वृत्तानाम्] सज्जनों की। (अच्छे चरित्र वालों की)। [विपत्तयः] आपत्तियां। [अस्थायिन्यः] अस्थायी होती हैं।

सरलार्थ–जिस प्रकार हाथों के प्रहार से गिराई हुई गेंद उछल कर ऊपर आ ही जाती है उसी प्रकार सज्जनों की आपत्तियां प्रायः अस्थायी होती हैं।

व्याख्या–सज्जन अत्यंत धैर्यशाली होते हैं अतः उनकी आपत्तियां अधिक समय तक रुकने वाली नहीं होतीं–इस विषय का प्रतिपादन गेंद के उछलने का उदाहरण देकर करते हुए कवि कहते हैं कि जैसे गेंद हाथों के प्रहार से नीचे जाकर शीघ्र उछलकर ऊपर आ जाती है, वह नीचे रह ही नहीं सकती उसी प्रकार अच्छे आचरण वाले लोग अधिक समय तक आपत्तिग्रस्त रह ही नहीं सकते, उनकी आपत्तियां बहुत जल्दी समाप्त हो जाती हैं। वह आपत्तियों से ऊपर उभर आते हैं और सामान्य हो जाते हैं। इस प्रकार सज्जनों की आपत्तियां हाथ के प्रहार से गेंद के नीचे जाने की तरह क्षणिक एवं अल्पकालीन होती हैं।

प्रस्तुत श्लोक में **अनुष्टप्** छन्द तथा **दृष्टान्त** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–हस्तप्रताडनैः पातितः अपि कन्दुकः शीघ्रमेव ऊर्ध्वम् आगच्छति तथैव केनापि कारणेन कष्टमापन्नः अपि सज्जनः शीघ्रमेव कष्टरहितः सुखी वा संजायते, तस्य दुःखम् अल्पकालपर्यन्तमेव तिष्ठति–नात्र सन्देहः।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

पातितः=√पत्, णिच्+क्त प्रत्यय।

करायातैः=करस्य आघाताः, तैः ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

उत्पतति=उत् उपसर्ग √पत्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

साधुवृत्तानाम्=साधु वृत्तं येषां ते, तेषाम् ; बहुव्रीहि समास।

अस्थायिन्यः=न स्थायिन्यः इति ; नञ् तत्पुरुष समास।

नोटः प्रस्तुत श्लोक 'नीतिशतक' की अधिकांश प्रतियों में प्राप्त नहीं होता।

सन्धि-विच्छेद

पातितोऽपि=पातितः+अपि।

कराघातैरुत्पतत्येव=कराघातैः+उत्पतति+एव।

अस्थायिन्यो विपत्तयः=अस्थायिन्यः+विपत्तयः।

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान्रिपुः।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कृत्वा यं नावसीदति।। 86।।

अन्वयः–हि आलस्यम् मनुष्याणां शरीरस्थः महान् रिपुः, उद्यमसमः बन्धुः न, यम् कृत्वा न अवसीदति।

प्रसंग–'आलस्य मनुष्यों के शरीर में रहने वाला महान् शत्रु है'–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[हि] निश्चित रूप से। [आलस्यम्] आलस्य। [मनुष्याणाम्] मनुष्यों के।

[शरीरस्थ:] शरीर में रहने वाला। [महान्] बहुत बड़ा। [रिपु:] शत्रु है। [उद्यमसम:] परिश्रम के समान। [बन्धु:] मित्र। [न अस्ति] नहीं है। [कृत्वा यम्] जिसे करके। [न अवसीदति] मनुष्य दु:खी नहीं होता।

सरलार्थ–निश्चयपूर्वक आलस्य मनुष्यों के शरीर में रहने वाला बहुत बड़ा शत्रु है तथा परिश्रम के समान अन्य कोई मित्र नहीं है जिसे करके मनुष्य कभी दु:खी (या निराश) नहीं होता।

व्याख्या–इसमें संदेह नहीं कि आलस्य मनुष्य का बहुत बड़ा शत्रु है तथा परिश्रम उसका सच्चा मित्र है। उद्यमी व्यक्ति संतोष, सुख तथा स्वास्थ्य को प्राप्त करता है जबकि आलसी व्यक्ति दु:ख और कष्ट को तो प्राप्त करता ही है, साथ ही उसका स्वास्थ्य भी बिगड़ने लगता है। अत: मनुष्य को आलस्य को पूर्णत: त्याग कर परिश्रम करना चाहिए। परिश्रमी व्यक्ति ही सफलता प्राप्त कर सकता है–इसमें संदेह नहीं।

प्रस्तुत श्लोक में **अनुष्टुप्** छन्द तथा **रूपक** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–आलस्यं मनुष्याणां शत्रु: उद्यमश्च बन्धु: भवति। अत: मनुष्येण आलस्यं विहाय उद्यम: कर्तव्य: यतो हि उद्यमेनैव कार्याणि सिध्यन्ति। अपि च, उद्यमं कुर्वन् स: कदापि दु:खं न प्राप्नोति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

शरीरस्थ:=शरीरे तिष्ठति इति उपपद समास।

कृत्वा=√कृ+क्त्वा प्रत्यय।

अवसीदति=अव उपसर्ग √सद्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

उद्यमसम:=उद्यमेन सम: ; तृतीया तत्पुरुष समास।

सन्धि-विच्छेद–

शरीरस्थो महान्=शरीरस्थ:+महान्।

नास्त्युद्यमसमो बन्धु:=न+अस्ति+उद्यमसम:+बन्धु:।

नावसीदति=न+अवसीदति।

भग्नाशस्य करण्डपिण्डिततनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा
कृत्वाखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिन:।
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यात: पथा
लोका:! पश्यत दैवमेव हि नृणां वृद्धौ क्षये कारणम्॥ 87॥

अन्वय:–आखु: नक्तं विवरं कृत्वा करण्डपिण्डिततनो: क्षुधाम्लानेन्द्रियस्य भग्नाशस्य

भोगिनः मुखे स्वयं निपतितः, तत्पिशितेन तृप्तः असौ सत्वरम् तेन एव पथा यातः। हे लोकाः, पश्यत नृणां वृद्धौ क्षये च दैवम् एव हि कारणम्।

प्रसंग–'मनुष्य की उन्नति अथवा अवनति का मूल कारण भाग्य ही है'–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहता है–

शब्दार्थ–[आखुः] चूहा। [नक्तम्] रात्रि में। [विवरम् कृत्वा] छेद करके। [भग्नाशस्य] निराश। [करण्डपिण्डिततनोः] पिटारी में सिकुड़कर बैठे हुए। [क्षुधाम्लानेन्द्रियस्य] भूख से शिथिल इन्द्रियों वाले के। [भोगिनः] सांप के। [मुखे] मुख में। [स्वयं निपतितः] अपने आप गिर पड़ा। [तत्पिशितेन] उस चूहे के मांस से। [तृप्तः] सन्तुष्ट हुआ। [असौ] वह सांप। [सत्वरम्] शीघ्र। [तेन एव] उसी। [पथा] मार्ग से। [यातः] निकल गया। [लोकाः!] हे मनुष्यो! [पश्यत] देखो। [नृणाम्] मनुष्यों की। [वृद्धौ] उन्नति। [क्षये च] और अवनति में। [दैवम् एव] भाग्य ही। [कारणम्] एकमात्र कारण होता है।

सरलार्थ–रात्रि के समय छेद करके जीवन से निराश पिटारी में सिकुड़कर बैठे हुए तथा भूख से व्याकुल इन्द्रियों वाले सांप के मुख में चूहा स्वयमेव पहुंच जाता है और वह सांप उस चूहे के मांस से सन्तुष्ट होकर शीघ्र ही उसी रास्ते से बाहर निकल जाता है। हे मनुष्यो! देखो! मनुष्यों की उन्नति और अवनति का मूल कारण उनका भाग्य ही होता है।

व्याख्या–भाग्य के कारण मृत्यु के समीप विद्यमान प्राणी भी जीवन प्राप्त कर लेता है तथा सुरक्षित प्राणी का जीवन समाप्त हो जाता है–इस विषय को प्रतिपादित करते हुए कवि कहते हैं–जीवन से निराश, भूख से व्याकुल, शिथिल इन्द्रियों वाले तथा पिटारी में बंद सांप के बक्से में छिद्र करके एक चूहा स्वयमेव पहुंच गया तथा उस चूहे के मांस से संतुष्ट वह सांप छिद्र के रास्ते से बाहर भी निकल जाता है। चूहे का जीवन सुरक्षित था वह तो सांप के मुख में गिरकर मृत्यु को प्राप्त कर लेता है तथा जो सांप मृत्यु के समीप था, चूहे के मांस से वही जीवन प्राप्त कर लेता है। अतः, इसमें संदेह नहीं कि भाग्य ही मनुष्य की सुरक्षा या विनाश अथवा उन्नति या अवनति का मूल कारण होता है।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **दृष्टान्त** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–कश्चित् सर्पः रात्रौ करण्डे बुभुक्षितः, मरणासन्नः च तिष्ठति स्म। तस्मिन् एव काले एकः मूषकः छिद्रं कृत्वा तत्रैव आगच्छत्। सर्पः तस्य मूषकस्य मांसेन तृप्तः भूत्वा तस्मादेव छिद्रात् बहिरगच्छत्। एवं भाग्यमेव संसारे मनुष्यस्य उत्थानस्य पतनस्य वा मूलकारणम्। भाग्येनैव अरक्षितः रक्ष्यते, सुरक्षितः च विनाशं लभते।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

कृत्वा=√कृ+क्त्वा प्रत्यय।

भग्नाशस्य=भग्ना: आशा: यस्य स: ; तस्य, बहुव्रीहि समास।

करण्डपिण्डिततनो:=करण्डे पिण्डितं तनु: यस्य स:, तस्य ; बहुव्रीहि समास।

म्लानेन्द्रियस्य=म्लानानि इन्द्रियाणि यस्य स:, तस्य ; बहुव्रीहि समास।

निपतित:=नि उपसर्ग √पत्+क्त प्रत्यय।

तृप्त:=√तृप्+क्त प्रत्यय।

तत्पिशितेन=तस्य पिशितम् ; तेन ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

यात:=√या+क्त प्रत्यय।

पश्यत=√दृश्, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, बहुवचन।

सन्धि-विच्छेद

करण्डपिण्डिततनोर्म्लानेन्द्रियस्य=करण्डपिण्डिततनो:+म्लानेन्द्रियस्य।

कृत्वाखुर्विवरम्=कृत्वा+आखु:+विवरम्।

निपतितो नक्तम्=निपतित:+नक्तम्।

तृप्तस्तत्पिशितेन=तृप्त:+तत्पिशितेन।

तेनैव=तेन+एव।

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिका:
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः किल हरेरैरावतो वारणः।
इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः संगरे
तद्व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम्।। ८८।।

अन्वय:-यस्य किल नेता बृहस्पति:, प्रहरणम् वज्रम्, सुरा: सैनिका:, स्वर्ग: दुर्गम्, हरे: अनुग्रह: खलु, वारण: ऐरावत: इति आश्चर्यबलान्वित: अपि बलभित् संगरे परै: भग्न:। तत् व्यक्तम् दैवम् एव ननु शरणम्, धिक् धिक् पौरुषम् वृथा।

प्रसंग-'भाग्य के अनुकूल होने पर ही मनुष्य का पुरुषार्थ सफल होता है'-इस विषय का उदाहरण द्वारा निरूपण करते हुए कवि कहते हैं-

शब्दार्थ-[यस्य] जिसके। [नेता] पथ प्रदर्शक। [बृहस्पति:] बृहस्पति हैं। [प्रहरणम्] हथियार। [वज्रम्] वज्र है। [सैनिका:] सैनिक। [सुरा:] देवता हैं। [दुर्गम्] किला। [स्वर्ग:] स्वर्ग है। [अनुग्रह:] अनुकम्पा। [हरे:] भगवान् विष्णु की है। [वारण:] हाथी। [ऐरावत:] ऐरावत है। [ऐश्वर्यबलान्वित:] ऐश्वर्य और बल से युक्त। [बलभित्] इन्द्र। [अपि] भी। [सङ्गरे] युद्ध में। [परै:] राक्षसों के द्वारा। [भग्न:] पराजित हो गया। [तत्] तो। [व्यक्तम्] स्पष्ट है। [ननु] निश्चयपूर्वक। [दैवम्] भाग्य। [शरणम्] रक्षक। [वृथा]

व्यर्थ के। [पौरुषम्] पौरुष को। [धिक् धिक्] धिक्कार।

सरलार्थ–बृहस्पति स्वयं जिसके नेता थे, वज्र जिसका शस्त्र था, सारे देवतागण जिसके सैनिक थे, स्वर्ग जिसका दुर्ग था, भगवान् विष्णु की जिस पर कृपा थी, ऐरावत जिसका हाथी था, ऐसे अद्‌भुत ऐश्वर्य और बल से युक्त इन्द्र युद्ध में अपने शत्रुओं (राक्षसों) से पराजित हो गए। अत: स्पष्ट है कि भाग्य ही एकमात्र रक्षक है, व्यर्थ के पौरुष को धिक्कार है।

व्याख्या–इसमें संदेह नहीं कि भाग्य सर्वोपरि है। भाग्य के सामने पुरुषार्थ का कुछ मूल्य नहीं–यही समझा रहे हैं कवि इस श्लोक में देवराज इन्द्र का उदाहरण देकर। इन्द्र देवता के मार्गदर्शक स्वयं बृहस्पति थे, अत्यंत शक्तिशाली वज्र उनका शस्त्र था, अत्यंत सामर्थ्यशाली देवता उनके सैनिक थे, स्वर्ग जैसा सुरक्षित स्थान उनका किला था, उन पर सदा भगवान् विष्णु की कृपा थी, अत्यंत बलशाली ऐरावत हाथी उनका वाहन था, बल जैसे शक्तिशाली राक्षस का भी उन्होंने विनाश कर दिया किन्तु ऐसे अद्वितीय ऐश्वर्यशाली तथा शक्ति सम्पन्न इन्द्र देवता भी असुरों के द्वारा पराजित हो गए–अब यह सब भाग्य के कारण ही हुआ जिसके सम्मुख पौरुष का कोई मूल्य नहीं। अत: ऐसा व्यर्थ का पौरुष धिक्कार के योग्य है जिसे करने से कुछ लाभ ही न हो। इस प्रकार व्यर्थ का श्रम या पौरुष करके मनुष्य को अपने को परेशान नहीं करना चाहिए क्योंकि भाग्य के सामने पौरुष बिल्कुल निरर्थक है।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **परिकर** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–भाग्ये सहायके सति पुरुषार्थ: अपि सफल: भवति नान्यथा यथा–देवगुरु: बृहस्पति: इन्द्रस्य मार्गदर्शक: आसीत्, तस्य अस्त्रं वज्रमासीत्, देवा: तस्य सैनिका: आसन्, स्वर्ग: दुर्गम् आसीत्, गजश्रेष्ठ: ऐरावत: तस्य वाहन:, विष्णो: कृपा अपि आसीत् तस्मिन् तथापि स: युद्धे दैत्यै: पराजित:। अत: सुस्पष्टमिदं यत् भाग्ये अनुकूले सति पुरुषार्थ: सहायक: भवति, यदि भाग्यमनुकूलं न वर्तते तर्हि पौरुषं पूर्णत: वृथा एव–नात्र सन्देह:।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

नेता=√नी+तृच् प्रत्यय।

बृहस्पति:=बृहतां पति: ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

प्रहरणम्=प्र उपसर्ग √हृ+ल्युट् प्रत्यय।

ऐश्वर्यबलान्वित:=ऐश्वर्यं च बलं च, ताभ्याम् अन्वित: ; तृतीया तत्पुरुष समास।

बलभिद्=बलं भिनत्ति इति।

भग्न:=√भज्+क्त प्रत्यय।

सन्धि-विच्छेद–

स्वर्गो दुर्गम्=स्वर्ग:+दुर्गम्।

हरेरैरावतो वारण:=हरे:+ऐरावत:+वारण:।

इत्यैश्वर्यबलान्वितोऽपि=इति+ऐश्वर्यबलान्वित:+अपि।

तद् व्यक्तम्=तत्+व्यक्तम्।

धिग् धिग् वृथा=धिक्+धिक्+वृथा।

छात्र ध्यान दें कि यहां 'धिक्' शब्द के योग में 'पौरुपम्' में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी।
तथाऽपि सुधिया भाव्यं सुविचार्यैव कुर्वता।। 89।।

अन्वय:–पुंसाम् फलम् कर्मायत्तम् बुद्धि: कर्मानुसारिणी तथापि कुर्वता सुधिया सुविचार्य एव भाव्यम्।

प्रसंग–'बुद्धिमान् मनुष्य को सोच-विचार कर ही कार्य करने में प्रवृत्त होना चाहिए'–ऐसा उपदेश करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

शब्दार्थ–[पुंसाम्] मनुष्यों का। [फलम्] शुभ अशुभ परिणाम। [कर्मायत्तम्] कर्म के अनुसार होता है। [बुद्धि:] बुद्धि। [कर्मानुसारिणी] कर्मों के अनुसार चलने वाली। [तथापि] फिर भी। [सुधिया] बुद्धिमान् मनुष्य के द्वारा। [सुविचार्य] अच्छी प्रकार से सोच-विचार कर। [एव] ही। [कुर्वता] कार्य करने वाला। [भाव्यम्] होना चाहिए।

सरलार्थ–मनुष्य जो शुभाशुभ फल भोगते हैं, वे उनके कर्मों पर आश्रित होता है और मनुष्य की बुद्धि कर्मों के अनुसार चलने वाली होती है। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को अच्छी प्रकार से सोच-समझकर ही कार्य करना चाहिए।

व्याख्या–मनुष्य जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल मिलता है तथा बुद्धि भी उसी प्रकार की हो जाती है। फिर भी मनुष्य अपनी बुद्धि से सोच-विचार कर कार्य करे–बुद्धिमानी इसी में है क्योंकि मनुष्य कर्म करने में तो स्वतन्त्र है किन्तु फल उसके हाथ में बिल्कुल नहीं है। सोच-विचार कर किए गए कार्य का परिणाम भी अच्छा होता है। इसके विपरीत बिना सोचे समझे किए गए कार्य का परिणाम बुरा ही होता है। तब भाग्य को दोष देने से कुछ नहीं मिलेगा। अत: मनुष्य को विवेकपूर्वक सोच-समझ कर कार्य करना चाहिए।

प्रस्तुत श्लोक में अनुष्टुप् छन्द है।

संस्कृत-भावार्थः -यद्यपि कर्मफलं कर्मानुसारं भवति, बुद्धिरपि च कर्मानुसारिणी भवति तथापि बुद्धिमता नरेण उचितम् अनुचितं च विचार्यैव कर्म कर्तव्यम्।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

कर्मायत्तम्=कर्मणाम् आयत्तम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

कर्मानुसारिणी=कर्म अनुसरति इति ; तत्पुरुष समास।

सुधिया=सुष्ठु धीः यस्य सः , तेन ; बहुव्रीहि समास।

सुविचार्य=सु+वि उपसर्ग √चर्+णिच्+ल्यप् प्रत्यय।

कुर्वता=√कृ+शतृ प्रत्यय ; पु॰, तृतीया विभक्ति, एकवचन।

भाव्यम्=√भू+ण्यत् प्रत्यय।

सन्धि-विच्छेद

तथापि=तथा+अपि।

सुविचार्यैव=सुविचार्य+एव।

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः सन्तापितो मस्तके
वाञ्छन्देशमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलं गतः।
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः
प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः।। 90।।

अन्वयः-खल्वाटः दिवसेश्वरस्य किरणैः मस्तके संतापितः सन् अनातपम् देशम् गच्छन् विधिवशात् तालस्य मूलम् गतः तत्र अपि पतता महाफलेन अस्य शिरः सशब्दम् भग्नम्, भाग्यरहितः यत्र गच्छति आपदः प्रायः तत्र एव यान्ति।

प्रसंग-'भाग्यहीन व्यक्ति प्रायः सब जगह आपत्तियों को ही प्राप्त करता है'-उदाहरण देकर इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं-

शब्दार्थ-[खल्वाटः] गंजा मनुष्य। [दिवसेश्वरस्य] सूर्य की। [किरणैः] किरणों के द्वारा। [मस्तके] मस्तक पर। [ताडितः] पीड़ित होकर। [अनातपं देशम्] धूप से रहित स्थान को। [वाच्छन्] खोजता हुआ (चाहता हुआ)। [विधिवशात्] भाग्यवश। [तालस्य] ताड़ के वृक्ष के। [मूलम्] नीचे। [गतः] पहुंच गया। [तत्र] वहां। [अपि] भी। [पतता] गिरते हुए। [महाफलेन] बड़े फल से। [अस्य] इसका। [शिरः] सिर। [सशब्दम्] आवाज के साथ। [भग्नम्] टूट गया। [प्रायः] प्रायः। [भाग्यरहितः] भाग्यहीन। [यत्र] जहां। [गच्छति] जाता है। [आपदः] आपत्तियां। [तत्र एव] वहीं [यान्ति] (पहुंच) जाती हैं।

सरलार्थ-सिर पर पड़ती हुई सूर्य की तेज किरणों से पीड़ित होकर गंजा व्यक्ति धूप से रहित अर्थात् छायादार स्थान को खोजता हुआ एक ताड़ के वृक्ष के नीचे पहुंच गया। वहां भी ताड़ के विशाल फल के गिरने से उसका मस्तक आवाज के साथ फट गया। प्राय: देखा जाता है कि भाग्यहीन व्यक्ति जहां जाता है आपत्तियां (उसके पीछे पीछे) वहीं पहुंच जाती हैं।

व्याख्या-इस श्लोक में कवि यह स्पष्ट करना चाहता है कि दुर्भाग्य अभागे व्यक्ति का कहीं पीछा नहीं छोड़ता, आपत्तियां सब जगह उसका पीछा करती हैं। इसी भाव को उदाहरण देकर स्पष्ट करते हुए कवि कहता है कि गंजा व्यक्ति धूप की तेज किरणों से बचने के लिए शीतल और छायादार स्थान की खोज करता हुआ एक ताड़ के वृक्ष के नीचे जाकर खड़ा हो जाता है लेकिन वहां भी ताड़ का विशाल फल उसके मस्तक पर गिरता है और उसका मस्तक आवाज के साथ (फट से) फट जाता है। इससे यही स्पष्ट होता है कि अभागा व्यक्ति जिसके भाग्य में सुरक्षा नहीं है सुरक्षित स्थान समझकर चाहे कहीं भी चला जाए उसका विनाश सुनिश्चित है क्योंकि आपत्तियां उसका पीछा कहीं भी नहीं छोड़तीं ; विपत्तियों से वह कहीं भी नहीं बच पाता। इसमें संदेह नहीं कि भाग्य सबसे अधिक बलवान होता है।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **अर्थान्तरन्यास** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:-दैवहता: जना: यत्र गच्छन्ति आपद: तत्रैव समायान्ति यथा कश्चित् खल्वाट: नर: छायायुक्तं प्रदेशम् अन्विष्यन् तालवृक्षस्य अधस्तात् अतिष्ठत्। तस्मिन्नेव क्षणे तस्य वृक्षस्य महाफलं अति वेगेन तस्य शिरसि अपतत् येन तस्य मस्तकं विदीर्णं जातम्। एवं सुस्पष्टमिदं जायते यत् दुर्दैवपीडितानां जनानां नास्ति कुत्रापि दु:खेभ्य: निवृत्ति:।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

दिवसेश्वरस्य=दिवसस्य ईश्वर: तस्य, षष्ठी तत्पुरुष समास।

सन्तापित:=सम् उपसर्ग √तप्+णिच्+क्त प्रत्यय।

अनातपम्=न अस्ति आतप: तम् ; नञ् और बहुव्रीहि समास।

वाञ्छन्=√वाञ्छ् +शतृ प्रत्यय, पु० प्रथमा विभक्ति, एकवचन।

विधिवशात्=विधे: वश:, तस्मात् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

गत:=√गम्+क्त प्रत्यय।

पतता=√पत्+शतृ प्रत्यय, नपु०, तृतीया विभक्ति, एकवचन।

महाफलेन=महत् च फलम् च, तेन ; कर्मधारय समास।

भग्नम्=√भञ्ज्+क्त प्रत्यय।

भाग्यरहित:=भाग्येन रहित: ; तृतीया तत्पुरुष समास।

गच्छति=√गम्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

यान्ति=√या लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

सन्धि-विच्छेद

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य=खल्वाट:+दिवसेश्वरस्य।

सन्तापितो मस्तके=सन्तापित:+मस्तके।

तत्राप्यस्य=तत्र+अपि+अस्य।

प्रायो गच्छति=प्राय:+गच्छति।

भाग्यरहितस्तत्रैव=भाग्यरहित:+तत्र+एव।

यान्त्यापद:=यान्ति+आपद:।

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनम्
गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम्।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां
विधिरहो बलवानिति मे मति:।। 91।।

अन्वय:–शशिदिवाकरयो: ग्रहपीडनम् गजभुजङ्गमयो: अपि बन्धनम्, मतिमताम् दरिद्रताम् च विलोक्य अहो विधि: बलवान् इति मे मति:।

प्रसंग–'भाग्य सबसे अधिक बलवान है–' इसी विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[शशिदिवाकरयो:] चन्द्रमा और सूर्य का। [ग्रहपीडनम्] राहु द्वारा ग्रस्त होना। [गजभुजङ्गमयो:] हाथी और सांप का। [अपि] भी। [बन्धनम्] बांधा जाना। [मतिमताम् च] और बुद्धिमानों की। [दरिद्रताम्] निर्धनता को। [विलोक्य] देखकर। [अहो!] आश्चर्य है। (अरे)। [विधि:] भाग्य। [बलवान्] बलवान् है। [इति] ऐसा। [मे मति:] मेरा विचार है।

सरलार्थ–सूर्य और चन्द्रमा का राहु द्वारा ग्रस्त होना, हाथी और सांप का बन्धनयुक्त होना तथा बुद्धिमानों का निर्धन होना–इन सबको देखकर यही निश्चय होता है कि भाग्य ही बलवान् है।

व्याख्या–भाग्य की बलवत्ता को स्थापित करते हुए कवि कहते हैं कि अत्यंत दीप्तिमान् सूर्य और चन्द्र का राहु केतु से ग्रस्त होना, अत्यधिक विशालकाय और शक्तिशाली हाथी तथा विषैले सर्पों का भी पकड़कर बांधा जाना और अत्यंत विद्वान् पण्डितों की निर्धनता

देखकर यही मानना पड़ता है कि भाग्य के आगे किसी की नहीं चलती, भाग्य सबसे अधिक बलवान् है। भाग्य के सामने बड़े से बड़े तेजस्वी देवता, भयंकर जन्तु, विशालकाय प्राणी तथा प्रचण्ड ज्ञान-सम्पन्न विद्वान् भी कुछ नहीं कर सकते। भाग्य के सामने सबको नतमस्तक होना ही पड़ता है।

प्रस्तुत श्लोक में द्रुतविलम्बित छन्द तथा अर्थान्तरन्यास और काव्यलिङ्ग अलंकार हैं।

संस्कृत-भावार्थः–अत्यन्ततेजस्विनोः सूर्यचन्द्रयोः राहुणा ग्रसनम्, गजसर्पयोः बन्धनम्, बुद्धिमतां निर्धनत्वं च दृष्ट्वा इदमेव युक्तं प्रतिभाति यत् दैवमेव सर्वाधिकं प्रबलम्। भाग्यमतिक्रान्तुं न कोऽपि शक्नोति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

शशिदिवाकरयोः=शशिश्च दिवाकरश्च शशिदिवाकरौ तयोः, ; द्वन्द्व समास।

ग्रहपीडनम्=ग्रहेण पीडनम् ; तृतीया तत्पुरुष समास।

गजभुजङ्गमयोः=गजश्च भुजङ्गमश्च, तयोः, द्वन्द्व समास।

बन्धनम्=√बन्ध्+ल्युट् प्रत्यय।

मतिमताम्=मति शब्द+मतुप् प्रत्यय।

विलोक्य=वि उपसर्ग √लोक्+ल्यप् प्रत्यय।

मतिः=√मन्+क्तिन् प्रत्यय।

सन्धिविच्छेद

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनम्=शशिदिवाकरयोः+ग्रहपीडनम्।

गजभुजङ्गमयोरपि=गजभुजङ्गमयोः+अपि।

विधिरहो! =विधिः+अहो!

सृजति तावदशेषगुणाकरं
पुरुषरत्नमलङ्करणं भुवः।
तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति
चेदहह कष्टमपण्डितता विधेः ।। 92 ।।

अन्वयः–(विधिः) तावत् अशेषगुणाकरम् भुवः अलङ्करणम् पुरुषरत्नं सृजति तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चेत् विधेः अपण्डितता, अहह कष्टम्।

प्रसंग–ब्रह्मा की विवेकहीनता के कारण अपने कष्ट की अभिव्यक्ति करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[अशेषगुणाकरम्] सम्पूर्ण गुणों का भण्डार। [भुवः] पृथ्वी का। [अलंकरणम्] आभूषण। [पुरुषरत्नम्] पुरुष रत्न को (श्रेष्ठ पुरुष को)। [सृजति] उत्पन्न करता है। [तत् अपि] उसे भी। [तत्क्षणभङ्गि] उसी क्षण विनाशशील। [करोति चेत्] यदि करता है तो। [अहह!] ओह! [विधेः] ब्रह्मा जी की। [अपण्डितता] मूर्खता। [कष्टम्] कष्टदायक है।

सरलार्थ–ब्रह्मा सर्वगुणसम्पन्न तथा पृथ्वी के आभूषण स्वरूप पुरुषरत्न को उत्पन्न करता है लेकिन उसे भी वह क्षणभंगुर बना देता है। ओह! ब्रह्मा की मूर्खता भी कैसी कष्टदायक है?

व्याख्या–ब्रह्मा श्रेष्ठ पुरुषों को भी क्षणभंगुर बनाता है–इस विषय के प्रति अपना कष्ट प्रकट करते हुए कवि कहता है कि ब्रह्मा कुछ ही विशिष्ट पुरुषों को सर्वगुणों से सम्पन्न बनाकर उनकी सृष्टि करता है लेकिन उनके जीवन की अवधि को वह और भी कम कर देता है तो इससे उसकी विवेकहीनता का तो परिचय मिलता ही है, साथ ही यह बात अत्यंत कष्टकर भी होती है। सर्वगुणसम्पन्न श्रेष्ठ पुरुषों का जीवन-काल अत्यंत स्वल्प हो–यह कितने कष्ट का विषय है। महापुरुष चिरजीवी हों–ऐसी कामना है कवि की।

प्रस्तुत श्लोक में **दुतविलम्बित** छन्द तथा **काव्यलिंग** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–विधाता एकतस्तु पृथिव्यां सकलगुणाकरं महान्तं पुरुषम् उत्पादयति, अपरतस्तु तमपि क्षणभंगुरं करोति। ब्रह्मणः मूर्खत्वमिदम् अतीव कष्टकरम्।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

अशेषगुणाकरम्=अशेषानां गुणानाम् आकरः, तम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

अलंकरणम्=अलम्+√कृ+ल्युट् प्रत्यय।

पुरुषरत्नम्=पुरुषेषु रत्नम् ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

सृजति=√सृज्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

तत्क्षणभंगि=तत्क्षणेन भंगि इति ; तृतीया तत्पुरुष समास।

करोति=√कृ, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

अपण्डितता=न पण्डितता ; नञ् तत्पुरुष समास।

सन्धिविच्छेद

तावदशेषगुणाकरम्=तावत्+अशेषगुणाकरम्।

तदपि=तत्+अपि।

चेदहह!=चेत्+अहह!

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किं
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम्।
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणं
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः।। 93।।

अन्वयः-करीरविटपे यदा पत्रं न एव (तदा) वसंतस्य किं दोषः यदि दिवा उलूकः न अवलोकते तदा सूर्यस्य किं दूषणम्। चातकमुखे धारा न एव पतन्ति तदा मेघस्य किं दूषणम्। यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितम् तत् मार्जितुम् कः क्षमः?

प्रसंग-ब्रह्मा ने मनुष्य के भाग्य में जो कुछ लिख दिया है उसे वह अवश्य ही भोगेगा, उसे कोई मिटा नहीं सकता-इस विषय का अनेक उदाहरणों से प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं-

शब्दार्थ-[यदा] यदि। [करीरविटपे] करील नामक वृक्ष पर। [पत्रम्] पत्ता। [न एव] नहीं होता तो। [वसन्तस्य] वसन्त ऋतु का। [दोषः किम्] क्या दोष? [यदि] यदि। [उलूकः] उल्लू। [दिवा अपि] दिन में भी। [न अवलोकते] नहीं देखता। [सूर्यस्य] सूर्य का। [दूषणं किम्] क्या दोष? [धाराः] यदि पानी की धारा। [चातकमुखे] चातक के मुख में [नैव पतन्ति] नहीं पड़तीं तो। [मेघस्य] बादल का। [दूषणं किम्] क्या दोष? [विधिना] विधाता के द्वारा। [पूर्वम्] पहले से। [यत्] जो। [ललाटलिखितम्] मस्तक पर लिख दिया गया है। [तत् मार्जितम्] उसे मिटाने में। [कः क्षमः] कौन समर्थ है?

सरलार्थ-यदि करीर के वृक्ष पर पत्ता नहीं होता तो इसमें वसन्त ऋतु का क्या दोष? यदि उल्लू दिन में नहीं देख पाता तो इसमें सूर्य का क्या दोष? यदि जल की धारा चातक पक्षी के मुख में नहीं गिर पाती तो इसमें मेघ का क्या दोष? विधाता ने (मनुष्य के) मस्तक पर जो कुछ पहले ही लिख दिया उसे कौन मिटा सकता है?

व्याख्या-वसन्त ऋतु में सभी पौधों, लताओं और वृक्षों पर पत्ते, फूल आदि उग जाते हैं किन्तु करील वृक्ष पर पत्ते उगते ही नहीं, अतः इसमें वसन्त ऋतु का कोई दोष नहीं। इसी प्रकार उल्लू दिन में सूर्य के तेज प्रकाश में भी देखने में समर्थ नहीं होता-इसमें भी सूर्य का कोई दोष नहीं और मेघ सब जगह जल बरसाता है तो भी यदि वर्षा ऋतु में चातक के मुख में वृष्टि का जल नहीं पड़ता तो मेघों का कोई दोष नहीं-इन सब में भाग्य का ही दोष है क्योंकि ब्रह्मा ने मनुष्य के मस्तक पर जो भी कुछ लिख दिया है उसे कोई भी नहीं मिटा सकता। भाग्य में लिखे हुए को बदलने में कोई समर्थ हो ही नहीं सकता।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **अर्थान्तरन्यास** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः-यदि वसन्ततौं अपि करीरपादपे पत्राणि न भवन्ति, उलूकः यदि

दिवा अपि द्रष्टुं न शक्नोति, एवमेव वर्षर्तौ अपि यदि चातकमुखे जलधारा: न पतन्ति तर्हि इदमेव सिध्यते यत् भाग्यलिखितं कोऽपि मार्जितुं समर्थ: न भवति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

करीरविटपे–करीरस्य विटपे ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

अवलोकते=अव उपसर्ग √लोक्, आत्मनेपद लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

दूषणम्=√दूष्+ल्युट् प्रत्यय।

चातकमुखे=चातकस्य मुखे ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

पतन्ति=√पत्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

ललाटलिखितम्=ललाटे लिखितम् ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

मार्जितुम=√मृज्+तुमुन् प्रत्यय।

सन्धिविच्छेद

नैव=न+एव।

दोषो वसन्तस्य=दोष:+वसन्तस्य।

नोलूकोऽप्यवलोकते=न+उलूक:+अपि+अवलोकते।

धारा नवै=धारा:+न+एव।

तन्मार्जितुम् = तत्+मार्जितुम्

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा
विधिर्वन्द्य: सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलद:।
फलं कर्मायत्तं यदि किममरै: किं च विधिना
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्य: प्रभवति।। 94।।

अन्वय:–देवान् नमस्याम:, ते अपि हतविधे: वशगा: ननु विधि: वन्द्य: स: अपि प्रतिनियतकर्मैकफलद: यदि फलम् कर्मायत्तम् तर्हि अमरै: किम् विधिना च किम् तत् कर्मभ्य: नम: येभ्य: विधि: अपि न प्रभवति।

प्रसंग–कर्म की महिमा का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[देवान्] देवताओं को। [नमस्याम:] हम प्रणाम करते हैं। [ते अपि] वे भी। [हतविधे:] दुष्ट विधि के। [वशगा:] वश में हैं। [ननु] निश्चयपूर्वक। [विधि:] विधाता। [वन्द्य:] वन्दनीय है। [स: अपि] वह विधाता भी। [प्रतिनियतकर्मैकफलद:] केवल कर्मों के अनुरूप निश्चित फल देने वाला है। [यदि] यदि। [फलम्] कर्मों का फल। [कर्मायत्तम्] कर्मों के ही अधीन है तो। [अमरै:] देवताओं से। [विधिना च] और

ब्रह्मा से। [किम्] क्या प्रयोजन? [तत्] इसलिए। [कर्मभ्यः] कर्मों को। [नमः] प्रणाम हो। [येभ्यः] जिन कर्मों के लिए। [विधिः अपि] विधाता भी। [न प्रभवति] समर्थ नहीं है।

सरलार्थ–हम देवताओं को प्रणाम करते हैं किन्तु वे भी निश्चित रूप से दुष्ट विधि के वश में हैं। तब विधि ही वन्दनीय है परन्तु वह भी कर्म के अनुसार ही निश्चित फल प्रदान करता है। यदि फल कर्म के अधीन है तो देवताओं से और ब्रह्मा से क्या प्रयोजन? अतः उन कर्मों को ही प्रणाम जिन पर स्वयं विधि की भी कुछ सामर्थ्य नहीं।

व्याख्या–भाग्य कर्म के अधीन है तथा कर्म सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं कि हम इन्द्र वरुण आदि देवताओं को प्रणाम करते हैं किन्तु वे स्वयं दुष्ट विधि के वशीभूत हैं। तब विधि वन्दना के योग्य है किन्तु विधि कर्मों के निश्चित फल को ही प्रदान करता है। मनुष्य जैसा कर्म करता है ब्रह्मा उसे उसी के अनुसार फल अवश्य प्रदान करता है। अब यदि फल कर्मों पर आश्रित है तो देवताओं, ब्रह्मा आदि की वन्दना का क्या लाभ? सबसे महत्वपूर्ण तो कर्म ही हुए जिन पर स्वयं विधि भी आश्रित है। विधाता जब कर्मों के अनुसार ही फल देता है तो मनुष्य को शुभ कर्म करने के लिए ही उद्यमशील रहना चाहिए जिससे उसे शुभ कर्मों का शुभ फल भी प्राप्त हो सके। इस प्रकार शुभ कर्म ही वन्दनीय हैं।

प्रस्तुत श्लोक में **शिखरिणी** छन्द तथा **सार** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–ब्रह्मा, विधिः, देवाः चापि कर्माधीनाः भवन्ति। सर्वे देवाः कर्मानुरूपमेव फलं प्रयच्छन्ति। अतः मनुष्यैः सदा शुभकर्माणि एव आचरणीयानि यतः मानवः शुभाशुभकर्मणां शुभाशुभं फलम् अवश्यमेव लभते।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

हतविधेः=हतः चासौ विधिः, तस्य ; कर्मधारय समास।

वशगाः=वशं गच्छन्ति इति वशगाः।

वन्द्यः=√वन्द्+यत् प्रत्यय।

प्रतिनियतकर्मैकफलदः=नियतं नियतं प्रतिनियतम्। प्रतिनियतं कर्मैकफलम् ददाति इति ; उपपद समास।

कर्मायत्तम्=कर्मणः आयत्तम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

प्रभवति=प्र उपसर्ग √भू, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद

नमस्यामो देवान्=नमस्यामः+देवान्।

हतविधेस्तेऽपि=हतविधे:+ते+अपि।

विधिर्वन्द्य:=विधि:+वन्द्य:।

सोऽपि=स:+अपि।

नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि=नम:+तत्कर्मभ्य:+विधि:+अपि।

छात्र ध्यान दें कि यहां 'नम:' के योग में '**कर्मभ्य:**' में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

तथा 'प्रभवति' (प्र+√भू) के योग में '**येभ्य:**' में 'अलम्' अर्थ में चतुर्थी विभक्ति लगी है।

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारित:
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नम: कर्मणे।। 95।।

अन्वय:–येन ब्रह्मा ब्रह्माण्डभाण्डोदरे कुलालवत् नियमित: येन विष्णु: दशावतारगहने महासंकटे क्षिप्त: येन रुद्र: कपालपाणिपुटके भिक्षाटनम् कारित: सूर्य: नित्यम् एव गगने भ्राम्यति तस्मै कर्मणे नम:।

प्रसंग–ब्रह्मा, विष्णु, महेश जैसे बड़े देवता भी कर्मों का फल भोगते हैं, अत: कर्म सबसे प्रधान है–इसी विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[येन] जिस (कर्म से)। [ब्रह्मा] ब्रह्मा को। [ब्रह्माण्डभाण्डोदरे] ब्रह्माण्ड रूपी पात्र के मध्य में। [कुलालवत्] कुम्हार की तरह। [नियमित:] नियुक्त किया गया। [येन] जिस (कर्म) से। [विष्णु:] भगवान् विष्णु। [दशावतारगहने] दश अवतार रूप ग्रहण करने के। [महासंकटे] महान् संकट में। [क्षिप्त:] डाल दिया गया। [येन] जिस (कर्म) से। [रुद्र:] भगवान् शिव से। [कपालपाणिपुटके] कपाल को हाथ में लेकर। [भिक्षाटनम्] भिक्षा-याचन। [कारित:] करवाई। [सूर्य:] सूर्य। [नित्यम् एव] हमेशा। [गगने] आकाश में। [भ्राम्यति] घूमता है। [तस्मै] उस। [कर्मणे] कर्म के लिए। [नम:] नमस्कार है।

सरलार्थ–उस कर्म को नमस्कार है जिसके द्वारा ब्रह्मा को ब्रह्माण्डरूपी बर्तन बनाने के लिए कुम्हार की तरह नियुक्त किया गया, विष्णु को दश अवतार ग्रहण करने के महान् संकट में डाल दिया गया, शिव को कपाल हाथ में लेकर भिक्षायाचन करनी पड़ी तथा सूर्य को नित्य आकाश में घूमना पड़ता है।

व्याख्या–कर्म के फल को भोगने के लिए मनुष्य तो क्या बड़े से बड़े देवता भी विवश

हैं–इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कवि कहते हैं–कर्म का फल भोगने के लिए ही ब्रह्मा को कुम्हार की तरह सृष्टि रूपी वर्तनों की रचना का काम करना पड़ा, विष्णु को दश अवतार ग्रहण करने का भयंकर दुःख भोगना पड़ा, शिवजी को नरमुण्ड हाथ में लेकर भिक्षा मांगनी पड़ी और सूर्य देवता को नित्य ही आकाश में भ्रमण करना पड़ता है। ऐसे महामहिमशाली कर्म को कवि प्रणाम करते हैं।

इस श्लोक के माध्यम से आचार्य भर्तृहरि मानवमात्र को यह उपदेश देना चाहते हैं कि कर्म सबसे अधिक प्रधान है। बड़े-बड़े देवता भी कर्म-फल भोगने से मुक्त नहीं रह सके तो मनुष्य अपने कर्मों के फल को भोगने से कैसे बच सकता है। इस बात को सदा ध्यान में रखते हुए मनुष्य को शुभकर्म करने में ही तत्पर रहना चाहिए क्योंकि कर्म अत्यंत महिमाशाली हैं।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **रूपक** और **उपमा** अलंकार हैं।

संस्कृत-भावार्थः–कर्मवशादेव ब्रह्मा कुम्भकारः इव जगत् रचयति, विष्णुः दशावतारकष्टं सहते, शिवः भिक्षार्थं भ्रमणं करोति, सूर्यश्च प्रत्यहं गगने भ्राम्यति। तस्मै कर्मणे प्रणामः अस्ति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

ब्रह्माण्डभाण्डोदरे=ब्रह्माण्डम् एव भाण्डम्, तस्य उदरम्, तस्मिन् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

नियमितः=नि उपसर्ग √यम्+णिच्+क्त प्रत्यय।

दशावतारगहने=दश अवताराः , तैः गहनम्, तस्मिन् ; तृतीया तत्पुरुष समास।

महासङ्कटे=महत् संकटम्, तस्मिन् ; कर्मधारय समास।

क्षिप्तः=√क्षिप्+क्त प्रत्यय।

कपालपाणिपुटके=कपालमेव पाणिपुटकम्, तस्मिन् ; कर्मधारय समास।

भिक्षाटनम्=भिक्षायै अटनम् ; तत्पुरुष समास।

कारितः=√कृ+णिच्+क्त।

भ्राम्यति=√भ्रम्+णिच्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद

कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डोदरे=कुलालवत्+नियमितः+ब्रह्माण्डोदरे।

विष्णुर्येन=विष्णुः+येन।

क्षिप्तो महासङ्कटे=क्षिप्तः+महासङ्कटे।

रुद्रो येन=रुद्रः+येन।

सूर्यो भ्राम्यति=सूर्य:+भ्राम्यति।

छात्र ध्यान दें–यहां 'नम:' के योग में 'कर्मणे' शब्द में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

नैवाकृति: फलति नैव कुलं न शीलं
विद्यापि नैव न च यत्नकृतापि सेवा।
भाग्यानि पूर्वतपसा खलु सञ्चितानि
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षा:।। 96।।

अन्वय:–पुरुषस्य आकृति: न एव फलति, न एव कुलं, न शीलं, विद्या अपि न एव, यत्नकृता सेवा अपि च न। पूर्वतपसा संचितानि भाग्यानि खलु काले फलन्ति यथा एव वृक्षा:।

प्रसंग–जिस तरह वृक्ष उचित समय पर फल देते हैं इसी तरह पहले किए गए शुभकर्म भाग्य के रूप में फल प्रदान करते हैं–इस विषय का निरूपण करते हुए कवि यहां कहते हैं–

शब्दार्थ–[पुरुषस्य] मनुष्य की। [आकृति:] आकृति या स्वरूप। [न एव] नहीं। [फलति] फल देता। [न एव] न ही। [कुलम्] अच्छा कुल। [न] न ही। [शीलम्] सदाचार। [विद्या अपि] विद्या भी। [न एव] नहीं। [च] और। [यत्नकृता] प्रयत्नपूर्वक की गई। [सेवा अपि न] सेवा भी नहीं। [पूर्वतपसा] पहले की गई तपस्या द्वारा। [संचितानि] संचित किए हुए। [भाग्यानि] भाग्य। [काले] समय पर। [खलु] निश्चित रूप से। [फलन्ति] फल देते हैं। [यथा] जैसे [एव] ही। [वृक्षा:] वृक्ष।

सरलार्थ–मनुष्य की (सुन्दर) आकृति फल नहीं देती, न ही कुल, न सदाचार न विद्या और न ही प्रयत्नपूर्वक की गई सेवा ही फल प्रदान करती है। जैसे वृक्ष निश्चित समय पर ही फल प्रदान करते हैं ऐसे ही पूर्व की गई तपस्या से सिञ्चित कर्म या भाग्य समय पर फल प्रदान करते हैं।

व्याख्या–मनुष्य के द्वारा पहले किए गए सत्कर्म ही सबसे महत्वपूर्ण होते हैं जिनसे भाग्य बनता है और वे भी निश्चित समय पर ही फल प्रदान करते हैं–यही स्पष्ट किया गया है इस श्लोक में। मनुष्य का सौन्दर्य, उसका वंश, सदाचरण, विद्या कोई भी कला सेवा आदि–चाहे कितनी प्रयत्नपूर्वक अर्जित की गई हों– फलीभूत नहीं होतीं। उसके द्वारा पूर्व जन्म में की गई तपस्या ही उसका भाग्य बनती है जो उसे अभीष्ट फल प्रदान करती है। यहां कवि बताना चाहते हैं कि दान-परोपकार-सेवा, तपस्या आदि के सम्पादन में मनुष्य को थोड़ा बहुत कष्ट तो अवश्य होता है किन्तु ये ही भाग्य बनकर उसे अभीष्ट फल की सिद्धि में सहायक होते है। इनका शुभ परिणाम उसे अवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार पहले किए गए शुभ कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाते।

प्रस्तुत श्लोक में वसन्ततिलका छन्द तथा दीपक और उपमा अलंकार हैं।

संस्कृत-भावार्थः–जीवने पुरुषस्य सौन्दर्यस्य, वंशस्य, सदाचरणस्य, वैदुष्यस्य, सेवाभावनायाः वा नास्ति किमपि मूल्यम्। मनुष्यस्य पूर्वजन्मनि कृतानि शुभकर्माणि भाग्यरूपेण तथैव फलन्ति यथा वृक्षाः समये फलन्ति। अतः शुभकर्माणि एव सदा आचरणीयानि।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

फलति=√फल्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

यत्नकृता=यत्नेन कृता ; तृतीया तत्पुरुषसमास।

पूर्वतपसा=पूर्वं तपः, तेन ; कर्मधारय समास।

संचितानि=सम् उपसर्ग √चि+क्त प्रत्यय।

फलन्ति=√फल्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

सन्धि-विच्छेद्

नैवाकृतिः=न+एव+आकृतिः।

विद्यापि=विद्या+अपि।

यथैव=यथा+एव।

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये
महार्णवे पर्वतमस्तके वा।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा
रक्षन्ति पुण्यानि पुरा कृतानि।। 97।।

अन्वयः–पुराकृतानि पुण्यानि वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा सुप्तम् प्रमत्तम् विषमस्थितम् वा रक्षन्ति।

प्रसंग–पहले किए गए पुण्यकर्म ही मनुष्य की सब जगह और सब परिस्थितियों में रक्षा करते हैं–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[पुरा] पहले। [कृतानि] किए गए। [पुण्यानि] पुण्य कर्म। [वने] जंगल में। [रणे] युद्ध में। [शुत्रजलाग्निमध्ये] शत्रु, जल और अग्नि के बीच में। [महार्णवे] महासमुद्र में। [वा] अथवा। [पर्वतमस्तके] पर्वत की सबसे ऊँची चोटी पर। [सुप्तम्] सोए हुए को। [प्रमत्तम्] असावधान को। [वा] अथवा। [विषमस्थितम्] आपद्ग्रस्त को [रक्षन्ति] रक्षा करते हैं।

सरलार्थ–पहले जन्म में अर्जित पुण्य कर्म जंगल, युद्ध, शत्रु, जल, अग्नि, महासमुद्र,

पर्वत की सबसे ऊँची चोटी आदि सब जगहों पर सोते हुए, असावधान रहते हुए तथा आपत्ति में पड़े हुए मनुष्य को भी बचाते हैं।

व्याख्या–मनुष्य के द्वारा पहले अर्जित पुण्य कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाते तथा निश्चित समय पर वे उसकी रक्षा करते हैं। चाहे व्यक्ति जंगल जैसी सुनसान जगह पर हो, युद्धक्षेत्र में हो, चाहे वह सोया हुआ हो, असावधान हो या आपत्तियों से घिरा हुआ ही क्यों न हो–सब जगह तथा सभी परिस्थितियों में उत्तम कर्मों द्वारा अर्जित पुण्य सदा-सदा मनुष्य की रक्षा करते हैं– इसमें सन्देह नहीं। अत: सत्कर्मों को करने की ही प्रेरणा दे रहे हैं आचार्य भर्तृहरि इस श्लोक के माध्यम से। इस जन्म में किए गए शुभकर्मों का शुभ परिणाम अगले जन्म में प्राप्त होता है–मनुष्य को यह भी याद रखना चाहिए।

प्रस्तुत श्लोक में उपजाति छन्द तथा **दीपक** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–सर्वासु परिस्थितिषु, सर्वेषु एव स्थानेषु च पूर्वजन्मकृतानि पुण्यकर्माणि एव मानवं रक्षन्ति। अत: मानवैः सदा शुभकर्माणि एव आचरणीयानि।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

शत्रुजलाग्निमध्ये=शत्रव: च जलम् च अग्नि: च इति शत्रुजलाग्नय:, तेषां मध्ये ; षष्ठी तत्पुरुष समास

महार्णवे=महान् अर्णव:, तस्मिन्; कर्मधारय समास।

पर्वतमस्तके=पर्वतस्य मस्तकम्, तस्मिन् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

सुप्तम्= √स्वप्+क्त प्रत्यय।

प्रमत्तम्=प्र उपसर्ग √मद्+क्त प्रत्यय।

विषमस्थितम्=विषमे स्थितम्; सप्तमी तत्पुरुष समास।

रक्षन्ति=√रक्ष्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

या साधूंश्च खलान्करोति विदुषो मूर्खान्हितान्द्वेषिणः
प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात्।
तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितं
हे साधो! व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा मा कृथाः।। 98।।

अन्वय:–या (सत्क्रिया) खलान् साधून् करोति, मूर्खान् विदुषः (करोति), द्वेषिणः हितान्, परोक्षम् प्रत्यक्षम् कुरुते, हालाहलम् तत्क्षणात् अमृतं कुरुते हे साधो! वाञ्छितम् फलम् भोक्तुम् ताम् भगवतीं सत्क्रियाम् आराधय व्यसनैः विपुलेषु गुणेषु वृथा आस्थाम् मा कृथाः।

प्रसंग–प्रस्तुत श्लोक में कवि सत्कर्म के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि–

शब्दार्थ–[या] जो (सत्क्रिया)। [खलान्] दुष्टों को। [साधून्] सज्जन। [करोति] कर देती है। [मूर्खान्] मूर्खों को। [विदुषः] विद्वान् कर देती है। [च] और। [द्वेषिणः] शत्रुओं को। [हितान्] मित्र कर देती है। [परोक्षम्] परोक्ष को। [प्रत्यक्षम्] प्रत्यक्ष कर देती है। [हालाहलम्] विष को। [तत्क्षणम्] उसी समय। [अमृतम्] अमृत। [कुरुते] कर देती है। [हे साधो!] हे सज्जनो। [वाञ्छितम्] अभिलषित। [फलम्] फल को। [भोक्तुम्] भोगने के लिए। [ताम् भगवतीम्] उस भगवती। [सत्क्रियाम्] सत्क्रिया (की)। [आराधय] आराधना करो। [व्यसनैः] परेशानियों से। [विपुलेषु गुणेषु] भरे हुए गुणों में। [वृथा] व्यर्थ में। [आस्थाम्] आस्था को। [मा कृथाः] मत करो।

सरलार्थ–हे सज्जनों! अभिलषित फल को भोगने के लिए उस भगवती सत्क्रिया की आराधना करो जो दुष्टों को सज्जन, मूर्खों को विद्वान्, शत्रुओं को हितैषी मित्र, परोक्ष को प्रत्यक्ष तथा विष को तत्क्षण अमृत बना देती है। आपत्तियों से भरे हुए गुणों में आस्था मत रखो।

व्याख्या–सत्क्रिया को देवी के समान महत्त्वपूर्ण बताते हए कवि कहते हैं कि सत्क्रिया रूपिणी देवी दुष्ट व्यक्ति को सज्जन के समान सम्मानयुक्त, मूर्ख को भी विद्वान्, शत्रु को मित्र, परोक्ष को प्रत्यक्ष तथा विष को भी अमृत बना सकती है। इस प्रकार मनुष्य को शुभ कर्मों को करने में ही प्रवृत रहना चाहिए। शुभ कर्म करने से ही मनुष्य समाज में, सभा में, गोष्ठियों में सम्मान प्राप्त कर सकता है। शुभ कर्मों के अनुष्ठान से ही मनुष्य मनोवांछित फल प्राप्त कर सकता है। कष्टदायक गुणों में आसक्ति रखना व्यर्थ है। सत्कर्म करने से मनुष्य की इच्छाओं की पूर्ति हो सकती है–यही उपदेश दिया गया है इस श्लोक में।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द है तथा **विशेष** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–हे साधो! वाञ्छितं फलं प्राप्तुं कष्टपूर्णेषु गुणेषु आसक्तिं विहाय सत्कार्यकरणे अभ्यासः विधेयः यतः सत्कर्मभिः खलाः साधवः जायन्ते, मूर्खाः पण्डिताः क्रियन्ते, शत्रवः मित्राणि भवन्ति, परोक्षं प्रत्यक्षं विधीयते, भयंकरं विषं च अमृतं क्रियते।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

करोति=√कृ, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

प्रत्यक्षम्=अक्ष्णोः प्रति ; अव्ययीभाव समास।

परोक्षम्=अक्ष्णोः परम् ; अव्ययीभाव समास।

आराधय=आ उपसर्ग √राध्+णिच् लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

सत्क्रियाम्=सती क्रिया, ताम् ; कर्मधारय समास।

भोक्तुम्=√भुज्+तुमुन् प्रत्यय।

कृथा:=√कृ, लुङ् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद

साधूंश्च=साधून्+च।

विदुषो मूर्खान्=विदुष:+मूर्खान्।

व्यसनैर्गुणेषु=व्यसनै:+गुणेषु।

विपुलेष्वास्थाम्=विपुलेषु+आस्थाम्।

छात्र ध्यान दें कि 'मा+अकृथा:' में निषेधात्मक पद 'मा' के योग में लुङ् लकार के रूप 'अकृथा:' के 'अ' का लोप हुआ है।

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यजातं
परिणतिरवधार्या यत्नत: पण्डितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाक:।। 99।।

अन्वय:–गुणवत् अगुणवत् वा कार्यजातं कुर्वता पण्डितेन परिणति: यत्नत: अवधार्या। अतिरभसकृतानां कर्मणां विपाक: शल्यतुल्य: आविपत्ते: हृदयदाही भवति।

प्रसंग–विद्वान् मनुष्य को कार्य करने से पूर्व उसका परिणाम भली-भांति सोच लेना चाहिए–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[गुणवत्] गुणों से युक्त। [अगुणवत्] गुणों से रहित। [वा] अथवा। [कार्यजातम्] कार्य के समूह को। [कुर्वता] करने वाले के द्वारा। [पण्डितेन] विद्वान् मनुष्य के द्वारा। [परिणति:] परिणाम। [यत्नत:] प्रयत्नपूर्वक। [अवधार्या] समझ लेना चाहिए। [हि] क्योंकि। [अतिरभसकृतानाम्] बहुत जल्दी में किए गए। [कर्मणाम्] कार्यों का। [विपाक:] परिणाम। [शल्यतुल्य:] बाण के समान। [आ विपत्ते:] मृत्युपर्यन्त। [हृदयदाही] हृदय को जलाने वाला। [भवति] होता है।

सरलार्थ–विद्वान् लोग अच्छा या बुरा जिस कार्य को भी करें उसका परिणाम वे अच्छी तरह से सोच लें क्योंकि जल्दबाजी में किए गए कार्यों का परिणाम मृत्युपर्यन्त बाण के समान हृदय को कष्ट पहुंचाने वाला होता है।

व्याख्या–बुद्धिमान् मनुष्य को कोई भी कार्य आरम्भ करने से पूर्व उसके परिणाम दुष्परिणाम आदि भली-भांति सोच लेने चाहिए क्योंकि दुष्परिणाम सामने आने पर सोचने से कुछ लाभ नहीं होगा। इसके अतिरिक्त बिना सोचे समझे, जल्दबाजी में किए गए कार्य का दुष्परिणाम शरीर में कांटे के समान जीवन-पर्यन्त चुभता रहता है और वह हृदय को असहनीय पीड़ा पहुंचाने वाला होता है। बुद्धिमान् व्यक्ति वही होता है जो कार्य को आरम्भ

करने से पहले उसके परिणाम आदि के बारे में भली-भांति विचार कर लेता है। मातृभाषा की अत्यंत प्रसिद्ध उक्ति भी इसी भाव को अभिव्यक्त करती है-

''बिना विचारै जो करै सो पाछे पछिताए''।

महाकवि भारवि ने किरातार्जुनीय में इसी भाव को इन शब्दों में प्रस्तुत किया है-

''सहसा विदधीत न क्रियाम्

अविवेकः परमापदां पदम्।''

प्रस्तुत श्लोक में **मालिनी** छन्द तथा **काव्यलिङ्ग** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–विदुषा कर्मणां शुभमशुभं फलं विचार्य एव कार्यं कर्तव्यम् अन्यथा त्वरया अविचार्य च कृतस्य कर्मणः फलम् जीवनपर्यन्तं कष्टकरं भवति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

अगुणवत्=न गुणवत् इति, नञ् तत्पुरुष समास।

कुर्वता=√कृ+शतृ प्रत्यय, पुं॰, तृतीया विभक्ति, एकवचन।

कार्यजातम्=कार्याणां जातम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

परिणतिः=परि उपसर्ग √नम्+क्तिन् प्रत्यय।

अवधार्या=अव उपसर्ग √धृ+ण्यत्+टाप् प्रत्यय।

यत्नतः=यत्न शब्द+तसिल् प्रत्यय।

अतिरभसकृतानाम्=अतिरभसेन कृतानि, तेषाम् ; तृतीया तत्पुरुष समास।

आ विपत्तेः=विपत्तिपर्यन्तम् ; अव्ययीभाव समास।

भवति=√भू, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

हृदयदाही=हृदयं दहति इति ; उपपद समास।

शल्यतुल्यः=शल्येन तुल्यः ; तृतीया तत्पुरुष समास।

सन्धि-विच्छेद

गुणवदगुणवद्वा=गुणवत्+अगुणवत्+वा।

परिणतिरवधार्या=परिणतिः+अवधार्या।

विपत्तेर्भवति=विपत्तेः+भवति।

शल्यतुल्यो विपाकः=शल्यतुल्यः+विपाकः।

स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां पचति तिलखलीमिन्धनैश्चन्दनौघै:
सौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः।
छित्त्वा कर्पूरखण्डान्वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्तात्
प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः।। 100।।

अन्वयः-यः मन्दभाग्यः मनुजः इमाम् कर्मभूमिम् प्राप्य तपः न चरति स वैदूर्यमय्यां स्थाल्यां चन्दनौघैः इन्धनैः तिलखलीम् पचति, अर्कमूलस्य हेतोः सौवर्णैः लाङ्गलाग्रैः वसुधां विलिखति, कर्पूरखण्डान् छित्वा इह समन्तात् कोद्रवाणाम् वृतिम् कुरुते।।

प्रसंग-जो मनुष्य इस प्रशंसनीय मानवदेह को प्राप्त करके भी पुण्यकर्म नहीं करता वह मूर्ख निस्संदेह भाग्यहीन है-इस विषय का निरूपण करते हुए कवि कहता है-

शब्दार्थ-[यः] जो। [मन्दभाग्यः] अभागा। [मनुजः] मनुष्य। [इमाम्] इस। [कर्मभूमिम्] कर्मभूमि (मानवदेह) को। [प्राप्य] प्राप्त करके। [तपः] तपस्या। [न चरति] नहीं करता। [सः] वह। [वैदूर्यमय्यां स्थाल्याम्] वैदूर्यमणि की बनी हुई बटलोही (पतीली) में। [चन्दनौघैः] चन्दन की। [इन्धनैः] लकड़ियों से। [तिलखलीम्] तिल की खली को। [पचति] पकाता है। [अर्कमूलस्य हेतोः] आक की जड़ को पाने के कारण से। [सौवर्णैः] सोने के बने हुए। [लाङ्गलाग्रैः] हल के अग्रभाग से। [वसुधाम्] पृथ्वी को। [विलिखति] जोतता है। [कर्पूरखण्डान्] कर्पूर के टुकड़ों को।

सरलार्थ-वह मनुष्य अभागा है जो इस मानवदेह रूपी कर्मभूमि को प्राप्त करके तपस्या नहीं करता वह (मानो) वैदूर्यमणि से बनी हुई पतीली में चन्दन की लकड़ी जलाकर तिल की खली को पकाता है अथवा आक की जड़ को पाने के लिए सोने के बने हुए हल के अग्रभाग से भूमि को जोतता है अथवा कपूर के टुकड़े करके कोदों के चारों ओर घेरा करता है।

व्याख्या-यह भारतभूमि पवित्र कर्मभूमि है, ऋषियों मुनियों की भूमि है, यदि यहां जन्म प्राप्त करके भी कोई शुभाचरण नहीं करता, सत्कर्म नहीं करता तो उससे बढ़कर कोई अभागा नहीं, वह मानों बहुमूल्य वैदूर्यमणि की बनी हुई पतीली में चन्दन की लकड़ियां जलाकर तिल की खली पकाता है अथवा आक की जड़ को पाने के लिए सोने के हल से पृथ्वी जोतता है, अथवा कपूर के टुकड़े काट-काट कर कोदों (क्षुद्र अन्न) के खेत के चारों ओर घेरा लगाता है। ये तीनों कार्य उसकी मूर्खता को प्रकट करते हैं अर्थात् जिस प्रकार इन तीन व्यर्थ के कार्यों को करने वाला बुद्धिहीन तथा मूर्ख कहलाता है उसी प्रकार इस पवित्र भारतभूमि में जन्म लेकर पुण्यकर्मों को न करने वाला मनुष्य मूर्ख और भाग्यविहीन कहलाता है।

इस प्रकार कवि यह उपदेश देना चाहते हैं कि इस पवित्र भारतभू में जन्म लेकर इस पुण्य और अमूल्य मानवदेह को धारण करके मनुष्य को सत्कर्मों के सम्पादन में प्रवृत्त होना चाहिए तथा आत्मकल्याण का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रस्तुत श्लोक में **स्रग्धरा** छन्द तथा **निदर्शना** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–यथा बहुमूल्ये वैदूर्यमणिमये पात्रे चंदनकाष्ठैः तिलांशानां पाचनम् अर्कमूलस्य प्राप्त्यर्थं स्वर्णनिर्मितेन हलाग्रेण भूमिकर्षणम्, कर्पूरवृक्षाणां खण्डैः कोद्रवरक्षार्थं वृत्तिकरणं च मनुष्यस्य मूर्खत्वं सूचयति तथैव अस्यां कर्मभूमौ जन्म प्राप्य यदि सत्कर्मणाम् अनुष्ठानं न क्रियते तत्तु मानवस्य अभाग्यत्वमेव प्रकटीकरोति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

पचति=√पच्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

इन्धनौघैः=इन्धनानाम् ओघाः, तैः ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

लाङ्गलाग्रैः=लाङ्गलानाम् अग्रणि, तैः षष्ठी तत्पुरुष समास।

विलिखति=वि उपसर्ग √लिख्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

अर्कमूलस्य=अर्कस्य मूलम्, तस्य ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

छित्त्वा= √छिद्+ क्त्वा प्रत्यय।

कर्पूरखण्डान्=कर्पूरस्य खण्डाः तान् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

वृतिम्=√वृ+क्तिन् प्रत्यय।

कुरुते=√कृ, आत्मनेपद, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

प्राप्य=प्र उपसर्ग √आप्+ल्यप् प्रत्यय।

कर्मभूमिम्=कर्मणः भूमिः, ताम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

चरति=√चर्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

मन्दभाग्यः=मन्दं भाग्यं यस्य सः ; बहुव्रीहि समास।

सन्धिविच्छेद

इन्धनैश्चन्दनौघैः=इन्धनैः+चन्दनौघैः।

सौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्विलिखति=सौवर्णैः+लाङ्गलाग्रैः+विलिखति।

प्राप्येमाम्= प्राप्य+इमाम्।

मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः=मनुजः+यः+तपः+मन्दभाग्यः।

मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं शत्रूञ्जयत्वाहवे
वाणिज्यं कृषिसेवनादिसकला विद्याः कलाः शिक्षताम्।
आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत्कृत्वा प्रयत्नं परं
नाभाव्यं भवतीह कर्मवशतो भाव्यस्य नाशः कुतः।। 101।।

अन्वयः–अम्भसि मज्जतु मेरुशिखरं यातु आहवे शत्रून् जयतु वाणिज्यम् कृषिसेवनादि-सकलाः विद्याः कलाः च शिक्षताम् परम् प्रयत्नम् कृत्वा खगवत् विपुलम् आकाशम् प्रयातु (तथापि) कर्मवशतः अभाव्यम् इह न भवति भाव्यस्य कुतः नाशः (भवति)।

प्रसंग–इस संसार में होनी होकर रहती है तथा अनहोनी कभी नहीं होती–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[अम्भसि] जल में। [मज्जतु] डुबकी लगाए। [मेरुशिखरम्] सुमेरु के शिखर पर। [यातु] चला जाए (चढ़ जाए)। [आहवे] युद्ध में। [शत्रून्] शत्रुओं को। [जयतु] जीत ले। [वाणिज्यम्] व्यापार करे। [कृषिसेवने च] और खेती करे या नौकरी करे। [सकलाः] सारी। [विद्याः] विद्याओं को। [कलाः] कलाओं को। [शिक्षताम्] सीख ले। [परं प्रयत्नं कृत्वा] बहुत अधिक प्रयत्न करके। [खगवत्] पक्षी की तरह। [विपुलम्] विस्तृत। [आकाशं प्रयातु] आकाश में चला जाए। [इह] इस संसार में। [कर्मवशतः] कर्मों के प्रभाव से। [अभाव्यम्] अनहोनी। [न भवति] कभी नहीं होती। [भाव्यस्य च] और होनी का। [नाशः कुतः] नाश कैसे होगा।

सरलार्थ–चाहे मनुष्य जल में डुबकी लगाए, चाहे सुमेरु के शिखर पर चढ़ जाए, चाहे युद्ध में शत्रुओं को जीत ले, चाहे व्यापार करे या खेती करे या नौकरी करे, चाहे वह सारी कलाओं और विद्याओं को सीख ले और चाहे वह बहुत अधिक प्रयत्न करके इतने विस्तृत आकाश में पक्षी की तरह उड़े लेकिन कर्मों के प्रभाव से जो नहीं होना वह कभी नहीं होता और होनी होकर रहती है।

व्याख्या–मनुष्य के भाग्य में जो लिखा है वह होकर ही रहता है तथा जो नहीं होना होता वह कभी नहीं होता–इस विषय को अनेक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हुए कवि कहते हैं–चाहे मनुष्य गम्भीर सागर में डूबा रहे लेकिन यदि उसके भाग्य में रत्न नहीं हैं तो वे उसे मिल ही नहीं सकते ; चाहे वह स्वर्ण पर्वत सुमेरु की ऊँची चोटी पर भी चला जाए किन्तु यदि उसके भाग्य में स्वर्ण की प्राप्ति नहीं है तो वह नहीं होगी ; चाहे वह युद्धक्षेत्र में शत्रुओं पर विजय भी प्राप्त कर ले परन्तु उसे मिलेगा वही जो उसके भाग्य में लिखा है। इसी प्रकार चाहे वह व्यापार करे, खेती करे, अनेकानेक विद्याएं सीख ले, कलाओं में निपुण हो जाए, चाहे पक्षी की तरह आकाश में विचरण करे किन्तु उसके भाग्य में जो और जितना लिखा है वह उसे अवश्य ही प्राप्त हो जाएगा और जो उसके भाग्य का नहीं है वह उसे प्राप्त हो ही

नहीं सकता। इस संसार में मनुष्य को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। व्यर्थ में धैर्यविहीन होने से कोई लाभ नहीं।

प्रस्तुत श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द तथा अर्थान्तरन्यास तथा अर्थापत्ति अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–मानवः जले निमज्जतु, सुमेरुपर्वतशिखरमारोहतु, युद्धे शत्रून् जयतु, वाणिज्यं करोतु, कृषिं वा सेवताम्, सर्वाः विद्याः कलाः वा अभ्यस्यतु, खगवत् स्वतन्त्रापूर्वकं आकाशे विहरतु वा–कर्मवशात् यद् भाव्यं तद् भवति एव नूनम्, यदभाव्यं तन्न कथमपि सम्भवति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

मज्जतु=√मज्ज्, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

मेरुशिखरम्=मेरोः शिखरम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

यातु=√या, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

जयतु=√जि, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

कृषिसेवने=कृषिश्च सेवनञ्च, ते ; द्वन्द्व समास।

शिक्षतु=√शिक्ष्, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

प्रयातु=प्र उपसर्ग √या, लोट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

अभाव्यम्=न भाव्यम् इति ; नञ् तत्पुरुष समास।

भवति=√भू, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

कर्मवशतः=कर्मणः वशः, तस्मात् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

सन्धिविच्छेद–

शत्रूञ्जयत्वाहवे=शत्रून्+जयतु+आहवे।

नाभाव्यम्=न+अभाव्यम्।

भवतीह=भवति+इह।

कर्मवशतो भाव्यस्य=कर्मवशतः+भाव्यस्य।

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं
सर्वैः जनाः स्वजनतामुपयान्ति तस्य।
कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा
यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य।। 102।।

अन्वयः–यस्य नरस्य विपुलम्, पूर्वसुकृतम् अस्ति, तस्य भीमम् वनं प्रधानम् पुरम् भवति सर्वः जनः तस्य स्वजनताम् उपयाति, कृत्स्ना च भूः तस्य सन्निधिरत्नपूर्णा भवति।

प्रसंग–जिस मनुष्य ने अपने पूर्व जन्म में बहुत पुण्य अर्जित कर लिया है उसके लिए सभी लोग अपने हो जाते हैं–इस विषय का निरूपण करते हुए कवि यहाँ कहते हैं–

शब्दार्थ–[यस्य नरस्य] जिस मनुष्य का। [विपुलम्] अत्यधिक। [पूर्वसुकृतम्] पूर्वजन्म में अर्जित पुण्य। [अस्ति] है। [तस्य] उसके लिए। [भीमम् वनम्] भयंकर जंगल। [प्रधानम् पुरम्] उत्तम नगर। [भवति] हो जाता है। [सर्वः जनः] सब लोग। [तस्य] उसकी। [स्वजनताम्] आत्मीयता को। [उपयाति] प्राप्त हो जाते हैं। [च] और। [कृत्स्ना भूः] सारी पृथ्वी। [सन्निधिरत्नपूर्णा] उत्तम निधियों तथा रत्नों से पूर्ण। [भवति] हो जाती है।

सरलार्थ–जिस मनुष्य ने पूर्व जन्म में अत्यधिक पुण्य अर्जित कर रखे हैं उसके लिए भयंकर वन श्रेष्ठ नगर बन जाता है, सब लोग उसके अपने बन जाते हैं और सम्पूर्ण पृथ्वी उसके लिए उत्तम निधियों एवं रत्नों से परिपूर्ण हो जाती है।

व्याख्या–मनुष्य के द्वारा अर्जित पुण्य कर्म भी व्यर्थ नहीं जाते तथा उसे अपने सत्कर्मों का पुण्य फल अगले जन्म में भी अवश्य मिलता है यही भाव दर्शाते हुए कवि इस श्लोक में कहते हैं कि जिस मनुष्य ने अपने पूर्वजन्म में अत्यधिक पुण्यकर्म अर्जित किए हुए हैं उसको किसी से किसी प्रकार का भय या कष्ट प्राप्त नहीं होता तथा सभी उसके लिए बन्धु बन जाते हैं, उसके लिए भयंकर जंगल भयप्रद न होकर सुन्दर नगर बन जाता है, कहीं कोई शत्रु नहीं रहता वरन् सब अपने हो जाते हैं और सारी पृथ्वी सुन्दर रत्नों को प्रदान करने वाली हो जाती है।

इस प्रकार उसके लिए सब जगह अनुकूलता रहती है। पूर्व जन्म में पुण्यों को सञ्चित करने वाले सज्जन सर्वत्र सुख एवं आनन्द को भोगते हैं–यही स्पष्ट करना चाहते हैं कवि यहां।

प्रस्तुत श्लोक में **वसन्ततिलका** छन्द तथा **काव्यलिंग** अलंकार हैं।

संस्कृत-भावार्थः–येन मनुष्येण पूर्वं बहुलानि सुकृतानि कृतानि तस्य कृते भयानकं वनं नगरं भवति, सर्वः जनः तस्य अनुकूलतां याति, सकला भूः तस्मै रत्नादिभिः परिपूर्णा जायते ; एवं सः सर्वत्रैव सुखसमृद्धिं लभते इति भावः।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

स्वजनताम्=स्वजन शब्द+तल् प्रत्यय+टाप् प्रत्यय।

उपयाति=उप √या, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्निधिरत्नपूर्णा=निधयः च रत्नानि चेति निधिरत्नानि ; शोभनानि निधिरत्नानि इति सन्निधिरत्नानि, तैः परिपूर्णा ; तत्पुरुष समास।

पूर्वसुकृतम्=पूर्वं सुकृतम् ; कर्मधारय समास।

सन्धि-विच्छेद

सर्वो जनः=सर्वः+जनः।

भूर्भवति=भूः+भवति।

यस्यास्ति=यस्य+अस्ति।

को लाभो गुणिसंगमः किमसुखं प्राज्ञेतरैः संगतिः
का हानिः समयच्युतिर्निपुणता का धर्मतत्त्वे रतिः।
कः शूरो विजितेन्द्रियः प्रियतमा काऽनुव्रता किं धनम्
विद्या किं सुखमप्रवासगमनं राज्यं किमाज्ञाफलम्।। 103।।

अन्वयः-लाभः कः गुणिसंगमः असुखम् किम् प्राज्ञेतरैः संगतिः हानिः का समयच्युतिः निपुणता का धर्मतत्त्वे रतिः शूरः कः विजितेन्द्रियः प्रियतमा का अनुव्रता धनं किं विद्या सुखम् किम् अप्रवासगमनम् राज्यं किम् आज्ञाफलम्।

प्रसंग-लाभ, हानि, सुख-दुःख आदि के स्वरूप का निरूपण प्रश्नोत्तर के रूप में प्रस्तुत करते हुए कवि कहते हैं-

शब्दार्थ-[लाभः] लाभ। [कः] क्या है? [गुणसङ्गमः] गुणवानों की संगति। [असुखम् किम्] सुख का अभाव अर्थात् दुःख क्या है? [प्राज्ञेतरैः] मूर्खों के साथ। [सङ्गतिः] संग करना। [हानिः] हानि। [का] क्या है? [समयच्युतिः] समय को व्यर्थ गंवाना। [निपुणता] दक्षता। [का] क्या है ? [धर्मतत्त्वे] धर्म के तत्त्व में [रतिः] प्रेम रखना। [शूरः] शूरवीर। [कः] कौन है? [विजितेन्द्रियः] इन्द्रियों को जीतने वाला। [प्रियतमा] प्रेमिका। [का] कौन है? [अनुव्रता] अनुकूल आचरण करने वाली। [धनम्] धन। [किम्] क्या है? [विद्या] विद्या। [सुखम्] सुख। [किम्] क्या है? [अप्रवासगमनम्] परदेश न जाना। [राज्यम्] राज्य। [किम्] क्या है? [आज्ञाफलम्] आदेश का पालन।

सरलार्थ-लाभ क्या है-गुणवानों की संगति। दुःख क्या है-मूर्खों का संग करना। हानि क्या है-समय को व्यर्थ गंवाना। निपुणता क्या है- धर्म के तत्त्व में अनुराग, शूरवीर कौन है-इन्द्रियों को जीतने वाला। प्रेमिका कौन है-अनुकूल आचरण करने वाली। धन क्या है-विद्या। सुंख क्या है-परदेश में न जाना। राज्य क्या है-आदेश का पालन।

व्याख्या-प्रश्न-उत्तर के माध्यम से लाभ-हानि, सुख-दुःख आदि के स्वरूप का अत्यंत सुन्दर वर्णन करते हुए कवि कहते हैं-

गुणवान् लोगों के सम्पर्क में रहना सबसे बड़ा लाभ माना गया है और इसके विपरीत मूर्ख लोगों के साथ रहना सबसे बड़ा दुःख माना गया है। धर्म के प्रति प्रेम रखना सबसे बड़ी

निपुणता कही जाती है। इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाला व्यक्ति ही शूरवीर कहलाता है। मन के अनुकूल आचरण करने वाली स्त्री ही सच्ची प्रेमिका होती है। विद्या ही सबसे महत्वपूर्ण धन है। विद्या को छोड़कर अन्य सब धन नष्ट हो जाते हैं किन्तु विद्या कभी नष्ट न होने वाला सच्चा धन है। अपने देश में अपने ही घर में रहना अर्थात् परदेश में जाकर न रहना ही सुख है। शासक वास्तव में वही है जिसकी सब आज्ञा का पालन करते हों। जिसकी आज्ञा का पालन ही न होता हो वह शासक कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द है।

संस्कृत-भावार्थः–गुणिनां संगमः एव लाभः उच्यते, मूर्खैः सह सम्पर्कः दुःखं कथ्यते वृथा कालयापनं हानिः भवति। धर्मतत्वे रुचिः प्रवीणता मन्यते। जितेन्द्रियः नरः शूरः कथ्यते। आज्ञानुकारिणी पत्नी प्रियतमा भवति। विद्या धनं भवति। स्वदेशे निवासः एव सुखं मन्यते। आदेशपालनञ्च शासनसाफल्यमुच्यते।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

गुणिसंगमः=गुणिनां सगमः इति ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

असुखम्=न सुखम् इति ; नञ् तत्पुरुष समास।

प्राज्ञेतरैः=प्राज्ञेभ्यः इतराः, तैः ; पञ्चमी तत्पुरुष समास।

संगतिः=सम् उपसर्ग √गम्+क्तिन् प्रत्यय।

समयच्युतिः=समयस्य च्युतिः ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

धर्मतत्त्वे=धर्मस्य तत्त्वम्, तस्मिन् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

रतिः=√रम्+क्तिन् प्रत्यय।

विजितेन्द्रियः=विजितानि इन्द्रियाणि यस्य सः ; बहुव्रीहि समास।

अप्रवासगमनम्=प्रवासे गमनम् प्रवासगमनम्, न प्रवासगमनम् इति, नञ् तत्पुरुष समास।

आज्ञाफलम्=आज्ञायाः फलम्, षष्ठी तत्पुरुष समास

सन्धि-विच्छेद

को लाभो गुणिसंगमः=कः+लाभः+गुणिसंगमः।

समयच्युतिर्निपुणता=समयच्युतिः+निपुणता।

शूरो विजितेन्द्रियः=शूरः+विजितेन्द्रियः।

मालतीकसुमस्येव द्वे गतीह मनस्विनः।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यंते वन एव वा।। 104।।

अन्वयः–इह मालतीकुसुमस्य इव मनस्विनः द्वे गती, सर्वलोकस्य मूर्ध्नि वा वने एव वा शीर्यते।

प्रसंग–'स्वाभिमानी मनुष्य या तो सम्मानपूर्वक जीवनयापन करता है अथवा मरना पसन्द करता है–' इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[इह] इस संसार में। [मनस्विनः] स्वाभिमानी पुरुष की। [मालतीकुसुमस्य इव] मालती पुष्प की तरह। [द्वे गती] दो प्रकार की स्थिति होती हैं। [वा] या तो। [सर्वलोकस्य मूर्ध्नि] सब लोगों के सिर पर। [वने एव वा] अथवा वन में ही। [शीर्यते] नष्ट हो जाता है (मुरझा जाता है)।

सरलार्थ–मालती के पुष्प की तरह स्वाभिमानी मनुष्य की दो प्रकार की स्थितियां होती हैं–या तो वह सब लोगों के सिर पर सुशोभित होता है अथवा वह वन में (वृक्ष पर लगा हुआ) ही नष्ट हो जाता है।

व्याख्या–स्वाभिमानी मनुष्य के सम्मानपूर्ण स्वभाव का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि स्वाभिमानी मनुष्य स्वाभिमान को आंच नहीं आने देता चाहे उसे अपना जीवन ही त्यागना क्यों न पड़े। जिस प्रकार पुष्प या तो भगवान् के या सभी के उत्तम अंग सिर पर सुशोभित होता है अथवा जंगल में वृक्ष पर लगे लगे ही मुरझा जाता है, नष्ट हो जाता है ठीक इसी प्रकार आत्माभिमानी जन या तो सबके द्वारा सम्मानित किए जाते हैं अथवा लोग उनके स्वभाव से परिचित ही नहीं होते और वे एकान्त वन में बिना किसी को अपना परिचय दिए वहीं जंगल में अपना जीवन समाप्त कर देते हैं। इस प्रकार या तो मनस्वी जन सम्मानपूर्वक जीवन-यापन करते हैं अथवा किसी के द्वारा भी उपेक्षित किए जाने पर वे जीवन त्याग भी देतें हैं, स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं–बहुत सुन्दर भाव प्रस्तुत किया गया है इस श्लोक में।

प्रस्तुत श्लोक में **अनुष्टुप्** छन्द तथा **पूर्णोपमा** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–मनस्वी जनः सर्वेभ्यः सम्मानं वाञ्छति, एकाकी वा तिष्ठन् जीवनं यापयति, उपेक्षितः भूत्वा सः शरीरं त्यक्तुमेव अभिलषति (सः जीवितुमेव न वाञ्छति)।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

मनस्विनः=मनस् शब्द+विनि प्रत्यय, पुल्लिंग, षष्ठी विभक्ति, एकवचन।

शीर्यते=√ शृ, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद

मालतीकुसुमस्येव=मालतीकुसुमस्य + इव।

गतीह=गती+इह।

वन एव=वने+एव।

अप्रियवचनदरिद्रैः प्रियवचनाढ्यैः स्वदारपरितुष्टैः।
परपरिवादनिवृत्तैः क्वचित्क्वचिन्मण्डिता वसुधा।। 105।।

अन्वयः- अप्रियवचनदरिद्रैः प्रियवचनाढ्यैः स्वदारपरितुष्टैः परपरिवादनिवृत्तैः वसुधा क्वचित् क्वचित् मण्डिता।

प्रसंग- सत्पुरुषों के गुणों का विवेचन करते हुए कवि कहते हैं-

शब्दार्थ- [अप्रियवचनदरिद्रैः] कटु वचनों का प्रयोग करने में दरिद्र। [प्रियवचनाढ्यैः] प्रिय वचनों के धनी। [स्वदारपरितुष्टैः] अपनी पत्नी से सन्तुष्ट रहने वाले। [परपरिवादनिवृत्तैः] दूसरों की निन्दा से पूर्णतया मुक्त सज्जनों से। [वसुधा] पृथिवी। [क्वचित् क्वचित्] कहीं-कहीं (बहुत कम)। [मण्डिता] सुशोभित है।

सरलार्थ- यह पृथ्वी कहीं-कहीं ऐसे सज्जनों से सुशोभित है जो कटु वचनों का प्रयोग नहीं करते, प्रियवचनों के धनी होते हैं, अपनी पत्नी से ही सन्तुष्ट रहते हैं तथा जो दूसरों की निन्दा से विमुख रहते हैं।

व्याख्या- ऐसे सज्जन पृथ्वी पर बहुत कम होते हैं जो कभी किसी के प्रति कटु वचन बोलकर उसे दुःखी नहीं करते, सदा प्रिय वचन बोलकर दूसरों को आनन्दित करते हैं, अपनी ही पत्नी से तृप्त रहते हैं तथा दूसरों की पत्नियों की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखते और दूसरों की निन्दा से भी विमुख होते हैं। ऐसे अत्यंत कठिनाई से प्राप्त होने वाले सज्जनों से ही यह पृथ्वी अलंकृत है अर्थात् ऐसे सज्जन ही पृथ्वी की शोभा होते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में **आर्या** छन्द तथा **अनुप्रास** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः- कटुभाषणशून्याः, मधुरभाषिणः, स्वपत्न्या सन्तुष्टाः, परनिन्दा-पराङ्मुखाः च सज्जनाः पृथिव्यां विरला एव भवन्ति। एतादृशैः सज्जनैरेव इयं धरा शोभते।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

अप्रियवचनदरिद्रैः=अप्रियाणि यानि वचनानि, तैः दरिद्राः, तैः, तृतीया तत्पुरुष समास।

प्रिवचनाढ्यैः=प्रियवचनैः आढ्याः ; तैः ; तृतीया तत्पुरुष समास।

स्वदारपरितुष्टैः=स्वेषां दाराः, तैः परितुष्याः, तैः ; तृतीया तत्पुरुष समास।

परपरिवादनिवृत्तैः=परेषां परिवादः , तेभ्यः निवृत्ताः, तैः ; पञ्चमी तत्पुरुष समास।

मण्डिताः=√मण्ड्+क्त प्रत्यय+टाप् प्रत्यय।

परितुष्टैः=परि उपसर्ग √तुष्+क्त प्रत्यय।

सन्धि-विच्छेद

क्वचिन्मण्डिता=क्वचित्+मण्डिता।

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्न
शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम्।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्नाधः
शिखा याति कदाचिदेव।। 106।।

अन्वयः-कदर्थितस्य अपि धैर्यवृत्तेः धैर्यगुणः हि प्रमार्ष्टुम् न शक्यते अधोमुखस्य कृतस्य अपि वह्नेः शिखा कदाचित् एव अधः न याति।

प्रसंग-धैर्यशाली मनुष्य आपद्ग्रस्त होने पर भी अपना धैर्यगुण नहीं छोड़ते-इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं-

शब्दार्थ-[कदर्थितस्य] दुर्दशाग्रस्त मनुष्य का। [अपि] भी। [धैर्यवृत्तेः] धैर्यशाली मनुष्य का। [धैर्यगुणः] धैर्यगुण। [हि] निश्चय ही। [प्रमार्ष्टुम्] मिटाया। [न] नहीं। [शक्यते] जा सकता। [अधोमुखस्य कृतस्य] नीचे की ओर मुख की गई। [अपि] भी। [वह्नेः] अग्नि की। [शिखा] लौ। [कदाचित् एव] कभी भी। [अधः] नीचे। [न याति] नहीं जाती।

सरलार्थ-दुर्दशा में पड़े हुए धैर्यपूर्ण स्वभाव वाले मनुष्य का धैर्यगुण मिटाया नहीं जा सकता (जिस प्रकार) नीचे की ओर मुख कर दिए जाने पर भी अग्नि की लौ (लपट) कभी भी नीचे की ओर नहीं जाती।

व्याख्या-बहुत सुन्दर उदाहरण देकर कवि आपत्तिग्रस्त धैर्यशाली के धैर्यपूर्ण स्वभाव का वर्णन कर रहे हैं-

धैर्यशाली व्यक्ति दुर्दशाग्रस्त होता हुआ भी कभी अपने धैर्यशाली गुण का परित्याग नहीं करता, संकटों में भी वह कभी विचलित नहीं होता जिस प्रकार अग्नि का मुख नीचे कर देने पर भी उसकी लौ सदा ऊपर की ओर उठती है। उसकी लौ (लपट) कभी नीचे की ओर नहीं जाती इसी प्रकार धीरपुरुष सदा धैर्यपूर्ण रहता है, धैर्य विहीन नहीं होता।

प्रस्तुत श्लोक में उपजाति छन्द तथा दृष्टान्त अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः-यथा अवनतमुखस्य अग्नेः ज्वाला कदापि नीचैः न गच्छति तथैव दुर्दशाग्रस्तस्य धीरपुरुषस्य धैर्यगुणः न कदापि विनाशयितुं शक्यते।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

धैर्यवृत्तेः=धैर्येण वृत्तिः यस्य सः, तस्य ; बहुव्रीहि समास।

शक्यते=√शक्+कर्मणि यक् प्रत्यय, आत्मनेपद, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

धैर्यगुणः=धैर्यः एव गुणः ; कर्मधारय समास।

प्रमार्ष्टुम्=प्र उपसर्ग √मृज्+तुमुन् प्रत्यय।

अधोमुखस्य=अधः मुखं यस्य सः, तस्य ; बहुव्रीहि समास।

याति=√या, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद

कदर्थितस्यापि=कदर्थितस्य+अपि।

धैर्यवृत्तेर्न=धैर्यवृत्तेः+न।

अधोमुखस्यापि=अधोमुखस्य+अपि।

वह्नेर्नाधः=वह्नेः+न+अधः।

कदाचिदेव=कदाचित्+एव।

कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति यस्य
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः।
कर्षन्ति भूरि विषयाश्च न लोभपाशै-
र्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः।। 107।।

अन्वयः–यस्य चित्तम् कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति कोपकृशानुतापः यस्य चित्तं न निर्दहति भूरिविषयाः लोभपाशैः न च कर्षन्ति स धीरः इदं कृत्स्नं लोकत्रयं जयति।

प्रसंग–तीनों लोकों में विजय प्राप्त करने वाले धीर पुरुष का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[यस्य] जिस मनुष्य के। [चित्तम्] मन को। [कान्ताकटाक्षविशिखाः] सुन्दर स्त्री के कटाक्ष रूपी तीक्ष्ण बाण। [न लुनन्ति] बेंधते नहीं (अर्थात् आकर्षित नहीं करते)। [कोपकृशानुतापः] क्रोध रूपी अग्नि का सन्ताप। [न निर्दहति] जलाता नहीं है। [च] और। [भूरि विषयाः] अनेक विषय। [लोभपाशैः] लोभरूपी पाशों के द्वारा। [न कर्षन्ति] आकर्षित नहीं करते। [सः] वह। [धीरः] धैर्यशाली पुरुष। [इदम्] इस। [कृत्स्नम्] सम्पूर्ण। [लोकत्रयम्] त्रिलोकी को। [जयति] जीत लेता है।

सरलार्थ–वही धीर पुरुष इस सम्पूर्ण त्रिभुवन को जीत लेता है जिसके हृदय को सुन्दर स्त्रियों के कटाक्ष रूपी बाण घायल नहीं करते, क्रोध रूपी अग्नि का संताप जिसे जला नहीं देता और विभिन्न विषय रूपी लोभ के पाश जिसे अपनी ओर आकर्षित नहीं करते।

व्याख्या–काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विषय-वासनाओं से पूर्णतः मुक्त होकर ही मनुष्य इस संसार पर विजय पा सकता है–इस विषय की अभिव्यक्ति करते हुए कवि कहता

है कि जो मनुष्य सुन्दर स्त्रियों के कटाक्षों से आकर्षित नहीं होता, क्रोध की अग्नि में वह जलता नहीं है और विभिन्न विषय-वासनाएं जिसे अपने प्रलोभन में नहीं फंसातीं-ऐसा ही धीर मनुष्य सारे लोकों में विजयी होता है। इस प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह और सांसारिक विषय वासनाओं से रहित मनुष्य ही त्रिभुवन में सदा विजय प्राप्त करता है-इसमें संदेह नहीं है। मनुष्य के छः शत्रु माने जाते हैं और इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला मनुष्य सारे संसार को वश में कर सकता है-यही भाव प्रस्तुत करना चाहते हैं कवि इस श्लोक में।

प्रस्तुत श्लोक में **वसन्ततिलका** छन्द तथा **रूपक** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–यस्य चित्तं कामक्रोधलोभादयः विषयाः नाकर्षन्ति स एव धीरपुरुषः त्रिभुवनमिदं जेतुं स्वाधीनं वा कर्तुं शक्नोति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

कान्ताकटाक्षविशिखाः=कान्तानां कटाक्षा एव विशिखाः ते ; कर्मधारय समास।

लुनन्ति=√लु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

निर्दहति=निर् उपसर्ग, √दह्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

कोपकृशानुतापः=कोपः एव कृशानुः तस्य तापः ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

कर्षन्ति=√कृष्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

लोभपाशैः=लोभाः एव पाशाः ; तैः, कर्मधारय समास।

लोकत्रयम्=लोकानां त्रयम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम्।
क्रियते भास्करेणेव स्फारस्फुरिततेजसा।। 108।।

अन्वयः–हि स्फारस्फुरिततेजसा भास्करेण इव महीतलम् एकेन अपि शूरेण पादाक्रान्तं क्रियते।

प्रसंग–सूर्य की तरह एक शूरवीर ही सारे संसार को वश में कर सकता है-इस भाव का निरूपण करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[हि] निश्चय ही। [स्फारस्फुरिततेजसा] चमकते हुए अत्यंत तेज से युक्त। [भास्करेण इव] सूर्य के समान। [एकेन शूरेण] एक ही वीर पुरुष से। [अपि] भी। [महीतलम्] पृथ्वी। [पादाक्रान्तम्] पैरों से आक्रान्त। [क्रियते] की जाती है।

सरलार्थ–यह सम्पूर्ण पृथ्वी एक ही वीरपुरुष से आक्रान्त होती है जिस प्रकार अत्यंत प्रखर तेज से युक्त चमकीले सूर्य से सारा संसार आक्रान्त किया जाता है।

व्याख्या–अत्यंत तेजस्वी वीर अकेला ही सम्पूर्ण पृथ्वी को अपने वश में कर सकता है–इस भाव को अभिव्यक्त करते हुए कवि कहते हैं कि जिस प्रकार एक अकेला दैदीप्यमान सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणों से सम्पूर्ण भूमण्डल को आक्रान्त कर लेता है उसी प्रकार तेजस्वी वीर मनुष्य अपने अद्वितीय तेज और पराक्रम से सम्पूर्ण पृथ्वी को पादाक्रान्त कर लेता है, सम्पूर्ण संसार उसके वश में हो जाता है। सूर्य के समान उसके प्रचण्ड तेज के सामने कोई शत्रु टिक ही नही सकता–इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

प्रस्तुत श्लोक में **अनुष्टुप्** छन्द तथा **उपमा** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–यथा दैदीप्यमानः सूर्यः स्वप्रचण्डकिरणैः एकाकी एव सम्पूर्णं भूमण्डलं व्याप्नोति तथैव एकोऽपि शूरः स्वपराक्रमेण सकलमिदं जगत् स्वपादाक्रान्तं कर्त्तुं शक्नोति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

पादाक्रान्तम्=पादाभ्याम् आक्रान्तम् ; तृतीया तत्पुरुष समास।

महीतलम्=मह्याः तलम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

क्रियते=√कृ+कर्मणि यक्, आत्मनेपद लट् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन।

स्फारस्फुरिततेजसा=स्फारं च स्फुरितं च तेजो यस्य, तेन ; बहुव्रीहि समास।

सन्धि-विच्छेद

एकेनापि=एकेन+अपि।

भास्करेणेव=भास्करेण+इव।

लज्जागुणौघजननीं जननीमिव स्वा-
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाम्।
तेजस्विनः सुखमसूनपि सन्त्यजन्ति
सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम्।। 109।।

अन्वयः–सत्यव्रतव्यसनिनः तेजस्विनः असून् अपि सुखं संत्यजन्ति लज्जागुणौघजननीम् अत्यन्तशुद्धहृदयाम् अनुवर्तमानां स्वां जननीम् इव प्रतिज्ञां पुनः न (संत्यजन्ति)।

प्रसंग–सत्य व्रत का पालन करने वाले तेजस्वी पुरुष अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए अपने प्राणों को भी प्रसन्नतापूर्वक न्यौछावर कर देते हैं–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[सत्यव्रतव्यसनिनः] सत्यव्रत के पालन में इच्छा रखने वाले। [तेजस्विनः] तेजस्वी पुरुष। [असून् अपि] प्राणों को भी। [सुखम्] बिना किसी कष्ट के। [सन्त्यजन्ति] छोड़ देते हैं। [पुनः] लेकिन। [अत्यन्तशुद्धहृदयाम्] अत्यंत शुद्ध हृदय वाली।

[अनुवर्तमानाम्] अनुकूल आचरण करने वाली। [जननीम् इव] माता के समान। [लज्जागुणौघजननीम्] लज्जा आदि गुणों को उत्पन्न करने वाली। [स्वाम् प्रतिज्ञां] अपनी प्रतिज्ञा को। [न] कदापि नहीं छोड़ते।

सरलार्थ–सत्य का पालन करने वाले महापुरुष अपने प्राणों का तो सुखपूर्वक परित्याग कर देते हैं किन्तु अत्यंत शुद्ध हृदयवाली तथा अनुकूल आचरण करने वाली माता तुल्य अपनी प्रतिज्ञा का कभी परित्याग नहीं करते।

व्याख्या–सत्यव्रत का पालन करने वाले तेजस्वी पुरुषों के लिए सबसे महत्वपूर्ण उनकी प्रतिज्ञा होती है जिसका पालन करने के लिए वे अपने प्राणों की बाजी तो लगा देंगे किन्तु प्रतिज्ञा पर कोई आंच नहीं आने देते। इतनी सुन्दर नीति को प्रस्तुत करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि सत्य बोलने वाले लोग प्रसन्नतापूर्वक अपने प्राणों का बलिदान तो कर देते हैं किन्तु लज्जा आदि गुणों को जन्म देने वाली तथा सदा अनुकूल आचरण करने वाली माता तुल्य प्रतिज्ञा का सदा पालन करते हैं, वे अपने वचन को कभी झूठा नहीं होने देते। इस प्रकार यहां प्रतिज्ञा को माता के समान सम्मान दिया गया है।

प्रस्तुत श्लोक में **वसन्ततिलका** छन्द तथा **उपमा** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–सत्यशीलाः महानुभावाः स्वप्राणान् तु सुखपूर्वकं त्यजन्ति किन्तु स्वीकृतां प्रतिज्ञां ते न कदापि त्यजन्ति, स्वकर्तव्यं मत्वा ते प्राणपणेनापि कृतां प्रतिज्ञां परिपालयन्ति।

व्याकरणातमक-टिप्पणी

लज्जागुणौघजननीम्=लज्जायाः गुणानाम् च ओघस्य जननी ताम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

अत्यन्तशुद्धहृदयाम्=अत्यंतं शुद्धं हृदयं यस्याः सा ताम् ; बहुव्रीहि समास।

अनुवर्तमानाम्=अनु उपसर्ग √वृत्+शानच् प्रत्यय+टाप् प्रत्यय।

तेजस्विनः=तेजस्+विनि प्रत्यय।

सन्त्यजन्ति=सम् उपसर्ग √त्यज्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

सन्धि-विच्छेद

सत्यव्रतव्यसनिनो न=सत्यव्रतव्यसनिनः+न।

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साऽप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक्तां च तं च मदनं च इमां च मां च।। 110।।

अन्वय:-(अहम्) यां सततं चिन्तयामि, सा मयि विरक्ता, सा अपि अन्यं जनम् इच्छति, स: जन: अन्यसक्त:। अस्मत्कृते च काचित् अन्या परिशुष्यति, ताम् च, तम् च मदनम् च, इमाम् च, माम् च धिक्।

प्रसंग-'काम-वासना निन्दनीय है' इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं-

शब्दार्थ-[याम्] जिस स्त्री को। [सततम्] नित्य। [चिन्तयामि] मैं चिन्तन करता रहता हूं। [सा] वह। [मयि] मुझसे। [विरक्ता] विरक्त (चिन्ता रहित) रहती है। [सा अपि] वह भी (तो) [अन्यम् जनम्] किसी और मनुष्य को। [इच्छति] चाहती है। [स: जन:] वह पुरुष। [अन्यसक्त:] अन्य स्त्री के प्रति आसक्त है। [अस्मत् कृते च] और हमारे लिए। [काचित् अन्या] कोई अन्य स्त्री। [परिशुष्यति] व्याकुल है। (तड़प रही है)। [ताम् च] उस स्त्री को। [तम् च] उस पुरुष को। [मदनम् च] कामदेव को। [इमाम् च] और इस स्त्री को। [माम् च] और मुझे। [धिक्] धिक्कार है।

सरलार्थ-मैं निरन्तर जिस स्त्री का चिन्तन करता रहता हूं वह मुझ से विरक्त है, वह किसी दूसरे पुरुष को चाहती है। वह पुरुष किसी अन्य स्त्री के प्रति आसक्त है तथा मेरे लिए कोई दूसरी स्त्री तड़प रही है। उस स्त्री को, उस पुरुष को, कामदेव को, इस स्त्री को और मुझे-सबको धिक्कार है।

व्याख्या-अत्यधिक काम-वासना निस्संदेह कष्टों की जननी है अत: निन्दनीय है-यही स्पष्ट करते हुए कवि कहते हैं-जिस प्रियतमा के प्रति मैं अत्यधिक चिन्तायुक्त रहता हूं वह मेरी उपेक्षा करके किसी अन्य पुरुष को चाहती है लेकिन वह पुरुष उसकी उपेक्षा करके किसी अन्य स्त्री के प्रति अनुरक्त है और मेरे लिए कोई और स्त्री व्याकुल है। कितने आश्चर्य की बात है! जब कवि इस निन्दनीय कामवासना को समझ जाता है तो वह अपने को, कामदेव को, दूसरे के प्रति आसक्त स्त्री को, अपने प्रति आसक्त स्त्री को तथा उस स्त्री के प्रति आसक्त पुरुष सबको धिक्कारता है।

इस श्लोक के विषय में एक किंवदन्ती भी प्रचलित है-

एक बार किसी योगी ने भर्तृहरि को जरा तथा मृत्यु का नाश करने वाला एक फल दिया। भर्तृहरि ने वह फल अपनी पत्नी को दे दिया। वह स्त्री अन्य पुरुष से प्रेम करती थी, अत: वह फल उसने अपने प्रेमी को दे दिया। वह पुरुष किसी वेश्या पर अनुरक्त था, अत: उस पुरुष ने वह फल उस वेश्या को दे दिया। वेश्या पुन: भर्तृहरि पर आसक्त थी। उस वेश्या ने वह भर्तृहरि को दे दिया। उस फल को देखकर तथा वास्तविकता जानकर भर्तृहरि वैराग्य की भावना से युक्त होकर वन को चले गए। यह वैराग्यभावना ही शतकत्रय की सृष्टि की रचना का कारण मानी जाती है।

प्रस्तुत श्लोक में वसन्ततिलका छन्द तथा अनुप्रास अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–अहं यां स्त्रीं प्राणप्रिया-इति विभावयामि सा मयि विरक्ता, सोऽपि पुरुषः पुनः अन्यस्त्रियामासक्तः। सा च स्त्री पुनः अन्यपुरुषम् अभिलषति, मां च काचिद् अन्या स्त्री वाञ्छति। अतः तां मत्प्रियां धिक्, तां च प्रति अनुरक्तं जनं धिक्, मदनमपि धिक्, मत्प्रणयिनीं वेश्यामपि धिक्, मामपि धिक् एवं सर्वे एव निन्दनीयाः तिरस्करणीयाश्च।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

चिन्तयामि=√चिन्त्, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन।

विरक्ता=वि उपसर्ग √रञ्ज्+क्त प्रत्यय+टाप् प्रत्यय।

इच्छति=√इष्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

अन्यसक्तः=अन्यस्यां सक्तः ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

परिशुष्यति=परि उपसर्ग √शुष्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद

साऽप्यन्यमिच्छति=सा+अपि+अन्यम्+इच्छति।

जनोऽन्यसक्तः=जनः+अन्यसक्तः।

काचिदन्या=काचित्+अन्या।

छात्र ध्यान दें कि 'धिक्' के योग में 'ताम्, तम्, मदनम्, इमाम् तथा माम्' शब्दों में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम्।। 111।।

अन्वयः–बोद्धारः मत्सरग्रस्ताः, प्रभवः स्मयदूषिताः। अन्ये च अबोधोपहताः (अतः) सुभाषितम् अङ्गे जीर्णम्।

प्रसंग–समाज में हितकारी वचन सुनने वाले सज्जन अत्यंत दुर्लभ हैं–इस प्रकार अपनी अन्तर्वेदना अभिव्यक्त करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[बोद्धारः] विद्वान् लोग। [मत्सरग्रस्ताः] ईर्ष्या से पीड़ित। [प्रभवः] राजा तथा अधिकारी लोग। [स्मयदूषिताः] अहंकार के दोष से युक्त। [अन्ये च] तथा दूसरे लोग। [अबोधोपहताः] अज्ञान से भरे हुए हैं। [सुभाषितम्] हितकारी वचन। [अङ्गे] मेरे मन में। [जीर्णम्] गल गए हैं।

सरलार्थ–विद्वान् लोग ईर्ष्या की भावना से पीड़ित हैं, राजा तथा अधिकारी लोग

अहंकार की दुर्भावना से पीड़ित हैं तथा अन्य लोग अज्ञान से ग्रस्त हैं–अतः हितकारी वचन मेरे मन में ही गल रहे हैं।

व्याख्या–कवि हित की भावना से ओतप्रोत होकर लोगों को अच्छे वचन सुनाना चाहते हैं, लोगों का हित करना चाहते हैं किन्तु लोग उनकी हितकर वाणी को भी सुनने के इच्छुक नहीं हैं–इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में आचार्य भर्तृहरि अपनी मनोवेदना को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि अच्छे वचनों के श्रोता मिलना अत्यंत कठिन है क्योंकि विद्वान् लोग अपनी विद्वत्ता के कारण ईर्ष्याग्रस्त हैं, राजा तथा अधिकारी लोग अहंकार के भावों से दूषित हैं तथा अन्य साधारण लोग अज्ञान से दूषित हैं। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी किसी न किसी दोष से दूषित है और सुभाषित सुनना ही नहीं चाहता ; तो अच्छे वचन किसे सुनाए जाएं? हितकर वचनों का योग्य श्रोता प्राप्त करना भी अत्यंत कठिन है और योग्य श्रोता के अभाव में सुभाषित कवि के साथ-साथ उसके हृदय में ही गले सड़े अर्थात् नष्ट हुए जा रहे है। अतः अच्छे वचनों से लोगों को लाभान्वित करने के लिए कवि उनकी अभिव्यक्ति के लिए बेचैन हो रहा है। कितना सुन्दर भाव प्रस्तुत किया है कवि ने।

प्रस्तुत लोक में **अनुष्टुप्** छन्द तथा कारण और कार्य का वर्णन होने से **काव्यलिङ्ग** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–विद्वांसः ईर्ष्याभावनापीडिताः, राजानः स्वाधिकारोन्मत्ताः च सन्ति। अज्ञानिनः सुभाषितानां तात्पर्यम् अवगन्तुमसमर्थाः, अतः सुभाषितानि कवेः मनसि एव परिणमन्ति। सुभाषितानां कोऽपि ग्रहीता नैव दृश्यते–एवं ग्रन्थकारः स्वमनोवेदनाम् प्रस्तौति अत्र।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

बोद्धारो=√बुध्+तृच् प्रत्यय, पु॰, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन।

मत्सरग्रस्ताः=मत्सरेण ग्रस्ताः ; तृतीया तत्पुरुष समास।

दूषिताः=√दूष्+ णिच्+क्त प्रत्यय।

स्मयदूषिताः=स्मयेन दूषिताः, तृतीया तत्पुरुष समास।

ग्रस्ताः=√ग्रस्+क्त प्रत्यय।

अबोधोपहताः=अबोधेन उपहताः ; तृतीया तत्पुरुष समास।

उपहता=उप उपसर्ग √हन्+क्त प्रत्यय।

सुभाषितम्=सु उपसर्ग √भाष्+क्त प्रत्यय।

जीर्णम्=√जृ+क्त प्रत्यय।

सन्धिविच्छेद

बोद्धारो मत्सरग्रस्ता:=बोद्धार:+मत्सरग्रस्ता:।

अबोधोपहताश्चान्ये=अबोधोपहता:+च+अन्ये।

जातः कूर्मः स एकः पृथुभुवनभरायार्पितं येन पृष्ठं
श्लाघ्यं जन्म ध्रुवस्य भ्रमति नियमितं यत्र तेजस्विचक्रम्।
संजातव्यर्थपक्षाः परहितकरणे नोपरिष्टान्न चाधो
ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकवदपरे जन्तवो जातनष्टाः।। 112।।

अन्वय:-एक: स: कूर्म: (एव) जात: येन पृथुभुवनभराय पृष्ठम् अर्पितम्। ध्रुवस्य जन्म श्लाघ्यं यत्र तेजस्विचक्रम् नियमितम् भ्रमति। परहितकरणे संजातव्यर्थपक्षा: अपरे जन्तव: उपरिष्यात् न, अध: च न (विद्यमाना: सन्ति) ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकवत् जातनष्य: भवन्ति।

प्रसंग-'संसार में अनेक प्रकार के प्राणी जन्म लेते हैं तथा मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं किन्तु दूसरों के उपकारपूर्ण कार्य करने में ही जीवन की सार्थकता है'-इस विषय का निरूपण करते हुए कवि कहते हैं-

शब्दार्थ-[एक: स:] अकेला वह। [कर्म:] कछुआ। [जात:] उत्पन्न हुआ है। [येन] जिसके द्वारा। [पृथुभुवनभराय] पृथ्वी के भार को उठाने के लिए। [पृष्ठम्] अपनी पीठ। [अर्पितम्] अर्पित कर दी गई। [ध्रुवस्य] ध्रुव का। [जन्म] जन्म लेना। [श्लाघ्यम्] प्रशंसनीय है। [यत्र] जहां। [तेजस्विचक्रम्] तेजस्वी ज्योति चक्र। [नियमितं भ्रमति] नियमपूर्वक घूमता रहता है। [परहितकरणे] परोपकार करने में। [संजातव्यर्थपक्षा:] असमर्थ। [अपरे जन्तव:] दूसरे प्राणी। [उपरिष्यात् न] न तो ऊपर के भाग में गए। [अध: चन] न नीचे के भाग में। [ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकवत्] ब्रह्माण्ड रूपी गूलर के अन्दर विद्यमान कीड़ों की तरह। [जातनष्या:] नष्ट हो जाते हैं।

सरलार्थ-उस कच्छप का जन्म लेना सार्थक है जिसने विस्तृत पृथ्वी के भार को उठाने के लिए अपनी पीठ समर्पित कर दी, ध्रुव का जन्म ग्रहण करना प्रशंसा के योग्य है जहां तेजस्वी तारों और ग्रहों का समूह नियमित रूप से घूमता रहता है। परोपकार करने में असमर्थ कुछ प्राणी न तो ऊपर (आकाश में) कुछ हित कर पाते हैं न नीचे (पाताल में), उनका जन्म ब्रह्माण्ड रूपी गूलर के अन्दर विद्यमान कीड़ों की तरह पूर्णतया निरर्थक होता है (जो जन्म लेते हैं और नष्ट हो जाते हैं)।

व्याख्या-कुछ लोग उपकारपूर्ण कार्यों से अपने जीवन को सार्थक बना लेते हैं किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जिनके जन्म लेने से किसी का कुछ भी हित नहीं होता-इस विषय का प्रतिपादन कर रहे हैं कवि यहाँ-

कछुआ विशाल ब्रह्माण्ड के भार को अपनी पीठ पर धारण किए रहता है, इसी प्रकार आकाश में ध्रुव के चारों ओर नियमित रूप से तेजस्वी ग्रह भ्रमण करते रहते हैं–इस प्रकार इन दोनों का जन्म सार्थक एवं प्रशंसनीय है किन्तु इनके विपरीत कुछ लोग इस ब्रह्माण्ड में गूलर के अन्दर विद्यमान कीड़ों की तरह होते हैं जिनका जन्म आकाश, पाताल या पृथ्वी किसी भी लोक में हितकर नहीं होता। गूलर के फल में कीड़े होते हैं जो फल को तोड़ते ही बाहर आते हैं और मर जाते हैं, इस प्रकार उनका जन्म बिल्कुल ही निरर्थक होता है। इस प्रकार उन कीड़ों की तरह जो लोग किसी का उपकार नहीं करते उनका जन्म पूरी तरह व्यर्थ तथा निरर्थक होता है। परोपकारपूर्ण कार्य करने से ही जीवन की सार्थकता है- इस अत्यंत सुन्दर विषय का प्रतिपादन किया गया है यहां।

प्रस्तुत श्लोक में **स्त्रग्धरा** छन्द तथा **रूपक** और **उपमा** अलंकार हैं।

संस्कृत-भावार्थः–कच्छपस्य जन्म सार्थकं येन विस्तृतब्रह्माण्डस्य भारं वोढुं स्वपृष्ठं समर्पितम्, पुनः ध्रुवस्यापि जन्मसार्थकं यत्र ग्रहनक्षत्रादयः भ्रमन्ति किन्तु परहितसाधने असमर्थाः अन्ये जन्तवः उदुम्बरे विद्यमानाः कीटवत् जातनष्टाः भवन्ति, तेषां जन्म पूर्णतया निरर्थकं भवति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

जातः=√जन्+क्त प्रत्यय।

पृथुभुवनभराय=पृथु भुवनस्य भरः, तस्मै ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

अर्पितम्=√अर्प्+क्त प्रत्यय।

भ्रमति=√भ्रम्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

परहितकरणे=परेषां हितानि, तेषां करणम्, तस्मिन् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

सन्धि-विच्छेद

पृथुभुवनभरायार्पितम्=पृथुभुवनभराय+अर्पितम्।

नोपरिष्टान्न=न+उपरिष्यात्+न।

चाधो=च+अधः।

जन्तवो जातनष्टाः=जन्तवः+जातनष्टाः।

वरं शृङ्गोत्संगाद् गुरुशिखरिणः क्वापि विषमे
पतित्वायं कायः कठिनदृषदन्ते विगलितः।
वरं न्यस्तो हस्तः फणिपतिमुखे तीक्ष्णदशने
वरं वह्नौ पातस्तदपि न कृतः शीलविलयः॥ 113॥

अन्वयः–गुरुशिखरिणः शृङ्गोत्संगात् क्वापि विषमे कठिनदृषदन्ते पतित्वा अयम् कायः विगलितः (चेत्) वरम्। तीक्ष्णदशने फणिपतिमुखे हस्तः न्यस्तः वरम्। वह्नौ पातः वरम्। तदपि शीलविलयः कृतः सन् न वरम्।

प्रसंग–'चरित्र जीवन में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, अतः प्राणों का परित्याग करके भी चरित्र की रक्षा करनी चाहिए'–इस विषय का निरूपण करते हुए कवि कहते हैं-

शब्दार्थ-[गुरुशिखरिणः] ऊंचे पर्वत की। [शृङ्गोत्संगात्] ऊंची चोटी से। [क्वापि] किसी भी। [विषमे] भयंकर। [कठिनदृषदन्ते] कठोर पर्वत की चट्टान पर। [पतित्वा] गिरकर। [अयं कायः] इस शरीर का। [विगलितः] नाश। [वरम्] अच्छा है। [तीक्ष्णदशने] तेज दांतों वाले। [फणिपतिमुखे] सांप के मुख में। [हस्तः न्यस्तः] हाथ रखना। [वरम्] अच्छा है। [वह्नौ] अग्नि में। [पातः] गिरना। [वरम्] अच्छा है। [तदपि] तो भी। [शीलविलयः कृतः] शीलभ्रष्ट होना। [न वरम्] अच्छा नहीं।

सरलार्थ-किसी ऊंचे पहाड़ की ऊंची चोटी से किसी कठिन पथरीली भूमि पर गिरकर इस शरीर का नाश करना अच्छा है, किसी तेज दांत वाले अत्यंत विषैले सांप के मुख में हाथ डालना भी अच्छा है तथा जलती हुई अग्नि में गिरना भी अच्छा है किन्तु शीलभ्रष्ट अर्थात् चरित्र से पतित होना कदापि अच्छा नहीं है।

व्याख्या–मनुष्य के लिए प्राणों की बलि देना तो अच्छा है किन्तु चरित्र का पतन कभी नहीं होने देना चाहिए–इस विषय की अभिव्यक्ति करते हुए कवि कहते हैं–यदि आवश्यकता हो तो मनुष्य ऊंचे पर्वत की सबसे ऊंची चोटी से पथरीली भूमि पर गिरकर प्राणों को त्याग दे, इसी प्रकार विषैले तथा तेज दांतों वाले विषधर के मुख में हाथ डालकर प्राण गंवा दे और चाहे तेज लपटों वाली आग में कूदकर भी प्राण गंवा दें किन्तु कभी अपने सच्चरित्र से पतित होने के विषय में उसे सोचना भी नहीं चाहिए। चरित्र पर संकट आने से पहले ही उसे प्राण त्याग देने चाहिएँ–यही सार है इस श्लोक का और यही उपदेश है कवि का। चरित्र का महत्व प्राणों से बढ़ कर है–इसमें संदेह नहीं है।

प्रस्तुत श्लोक में **शिखरिणी** छन्द है।

संस्कृत-भावार्थः–मनुष्यः पर्वतस्य शिखरात् भूमौ पतित्वा प्राणान् त्यजतु, विषमये सर्पमुखे हस्तं निधाय वा शरीरं नश्यतु, अग्नौ आत्मानं प्रक्षिप्य मृत्युम् आप्नोतु वा किन्तु सः चरित्रभ्रंशो न कदापि स्यात्, यतः शीलरक्षणं तस्य प्रथमं कर्त्तव्यम्। अतः शीलरक्षा मानवेन प्राणान् परित्यज्य अपि कर्तव्या।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

शृंगोत्संगात्= शृंगस्य उत्संगः, तस्मात् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

गुरुशिखरिणः=गुरुः शिखरी, तस्य ; कर्मधारय समास।

पतित्वा=√पत्+क्त्वा प्रत्यय।

कठिनदृषदन्ते=कठिना दृषत्, तस्या: अन्त:, तस्मिन् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

विगलित:=वि उपसर्ग √गल्+क्त प्रत्यय।

न्यस्त:=नि उपसर्ग √अस्+क्त प्रत्यय।

तीक्ष्णदशने=तीक्ष्णा: दशना: यस्मिन् तत् तस्मिन् ; बहुव्रीहि समास।

कृत:=√कृ+क्त प्रत्यय।

शीलविलय:=शीलस्य विलय: ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

फणिपतिमुखे=फणिनां पति:, तस्य मुखे ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

सन्धि-विच्छेद

पतित्वायम्=पतित्वा+अयम्।

न्यस्तो हस्त:=न्यस्त:+हस्त:।

पातस्तदपि=पात:+तत्+अपि।

यथा कन्दुकपातेनोत्पतत्यार्य: पतन्नपि।
तथा त्वनार्य: पतति मृत्पिण्डपतनं यथा।। 114।।

अन्वय:–आर्य: पतन् अपि कन्दुकपातेन यथा उत्पतति अनार्य: तु यथा मृत्पिण्डपतनम् तथा पतति।

प्रसंग–आर्य तथा अनार्य के पतन का अन्तर बताते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[आर्य:] सज्जन। [पतन् अपि] (नीचे) गिरता हुआ भी। [कन्दुकपातेन यथा] गेंदके नीचे गिरने की तरह। [उत्पतति] ऊपर आ जाता है। [तथा तु] किन्तु। [अनार्य:] नीच व्यक्ति। [मृत्पिण्डपतनम् यथा] मिट्टी के ढेले की तरह गिरना। [पतति] नीचे जाता है।

सरलार्थ–सज्जन गेंद की तरह गिरता हुआ भी फिर ऊपर आ जाता है किन्तु नीच व्यक्ति मिट्टी के ढेले की तरह नीचे गिरता है (और ऊपर उठ नहीं पाता)।

व्याख्या–जिस प्रकार गेंद नीचे गिरती है फिर ऊपर आ जाती है उसी प्रकार सज्जन का यदि पतन हो भी जाता है तो वह प्रयत्नपूर्वक पुन: ऊंचा उठने का अथवा उन्नति करने का प्रयास करता है। इसके विपरीत दुष्ट व्यक्ति का पतन मिट्टी के ढेले की तरह होता है जो नीचे गिरकर आसानी से ऊपर उठने का अथवा उन्नति करने का प्रयास नहीं कर पाते। एक बार पतन हो गया तो वे निराश होकर, धैर्य खोकर उन्नति करने में सफल नहीं हो पाते, एक बार अवनति प्राप्त करके उनका नाश ही हो जाता है। सज्जन अवनति का धैर्यपूर्वक सामना

करते हैं और शीघ्र इस अवस्था से बाहर निकलने का अर्थात् उन्नति की ओर अग्रसर होने का प्रयास करते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में **अनुष्टुप्** छन्द तथा **उपमा** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–यथा कन्दुकः पतति पुनः उत्पतति तथैव सत्पुरुषः अपि अवनतिं प्राप्य परिश्रमेण उत्साहेन च पुनः उन्नतिं करोति किन्तु दुर्जनः मृत्पिंडवत् एकदा अवनतिं प्राप्य हतोत्साहः भूत्वा पुनः उन्नतिं कर्तुं न शक्नोति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी–

उत्पतति=उत् उपसर्ग √पत् लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

पतन्=√पत्, शतृ प्रत्यय, पु०, प्रथमा विभक्ति, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद

कन्दुकपातेनोत्पत्यार्यः=कन्दुकपातेन+उत्पतति+आर्यः।

पतन्नपि=पतन्+अपि।

त्वनार्यः=तु+अनार्यः।

को न याति वशं लोके मुखे पिण्डेन पूरितः।
मृदङ्गो मुखलेपेन करोति मधुरध्वनिम्।। 115।।

अन्वयः–लोके मुखे पिण्डेन पूरितः कः वशं न याति। मृदङ्गः मुखलेपेन मधुरध्वनिम् करोति।

प्रसंग–मुख भरने से अर्थात् खिलाने-पिलाने से सब को वश में किया जा सकता है–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[लोके] संसार में। [मुखे] मुख में। [पिण्डेन] मिष्टान्न से। [पूरितः] भरा हुआ होने पर। [कः] कौन। [वशम्] वश में। [न याति] नहीं हो जाता। [मृदङ्गः] वाद्ययन्त्र मृदंग। [मुखलेपेन] मुख पर आटे का लेप होने से। [मधुरध्वनिम्] मधुर आवाज। [करोति] करता है।

सरलार्थ–जिस प्रकार मृदंग जैसे वाद्ययन्त्र के मुख पर (ऊपर के भाग पर) आटे का लेप लगाने से वह मधुर आवाज उत्पन्न करने लगता है उसी प्रकार मनुष्य का मुख मिष्टान्न से भरा होने पर उसे वश में किया जा सकता है।

व्याख्या–यह युग रिश्वत खिलाने का है, दूसरे को कुछ खिलाने से अर्थात् रिश्वत देने से काम आसानी से हो जाता है– इसी भाव की अभिव्यक्ति कर रहे हैं कवि इस श्लोक में।

जिस प्रकार तबला, मृदङ्ग आदि वाद्य यन्त्रों के मुख पर आटे का लेप लगाने से वे

मधुर ध्वनि उत्पन्न करने लगते हैं उसी प्रकार मनुष्यों को मिष्टान्न खिलाने से वे वश में किए जा सकते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि दूसरों को मिष्टान्न खिलाने से रुके हुए कार्य पूरे हो जाते हैं क्योंकि आजकल बिना कुछ खाए कोई काम करता ही नहीं है। अतः यह कथन बिल्कुल सत्य है कि मुंह भरा होने पर लोग सरलता से वश में किए जा सकते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में **अनुष्टुप्** छन्द तथा **दृष्टान्त** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–यथा मृदङ्गस्य मुखे लेपकरणेन तस्य ध्वनिः मधुरः भवति तथैव मिष्टान्नादिभोज्यपदार्थेन नरः वशीभूतः जायते।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

यातिः=√या, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

पूरितः=√पूर्+ णिजन्त+क्त प्रत्यय।

मुखलेपेन=मुखे लेपः, तेन ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

करोति=√कृ, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

मधुरध्वनिम्=मधुरः ध्वनिः तम् ; कर्मधारय समास।

सन्धि-विच्छेद

को न=कः+न।

मृदंगो मुखलेपेन=मृदंगः+मुखलेपेन।

अयममृतनिधानं नायकोऽप्योषधीनां
शतभिषगनुयातः शंभुमूर्ध्नोऽवतंसः।
विरहयति न चैनं राजयक्ष्मा शशाङ्कं
हतविधिपरिपाकः केन वा लङ्घनीयः।। 116।।

अन्वयः–अयम् अमृतनिधानम्, ओषधीनाम् नायकः, शतभिषगनुयातः, शम्भुमूर्ध्नः अवतंसः अपि (अस्ति, तथापि) राजयक्ष्मा एनम् शशाङ्कम् च न विरहयति। हतविधिपरिपाकः केन वा लङ्घनीयः।

प्रसंग–'दुर्भाग्य का परिणाम सभी को भोगना पड़ता है, इसका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता'–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[अयम्] यह (चन्द्रमा)। [अमृतनिधानम्] अमृत का खजाना है। [ओषधीनां नायकः] औषधियों का स्वामी है। [शतभिषगनुयातः] सैकड़ों तारामण्डल से अनुकरण किया गया है। [शंभुर्मूर्ध्नः] शिवजी के मस्तक का। [अवतंसः] आभूषण। [अपि] भी। [राजयक्ष्मा] राजयक्ष्मा रोग। [एनम्] इस। [शशाङ्कम्] चन्द्रमा को। [न] नहीं। [विरहयति]

छोड़ता। [हतविधि परिपाक:] दुर्भाग्य का परिणाम। [केन] किसके द्वारा। [वा] अथवा। [लङ्घनीय:] उल्लंघन करने योग्य है?

सरलार्थ–अमृत के भण्डार, विभिन्न औषधियों के स्वामी, सैकड़ों तारामण्डल के द्वारा अनुकरण किए जाते हुए तथा स्वयं शंकर भगवान् के सिर के आभूषण उस चन्द्रमा को भी राज्यक्ष्मा रोग नहीं छोड़ता। अथवा दुर्भाग्य के परिणाम का कौन उल्लंघन कर सकता है?

व्याख्या–दुर्भाग्य का परिणाम सबको भोगना पड़ता है–इस विषय को प्रस्तुत किया जा रहा है यहाँ। चन्द्रमा अमृत का कोष, संजीवनी आदि औषधियों का स्वामी, अनेकों वैद्यों द्वारा अनुगमन किया गया है तथा वह शिवजी के मस्तक का आभूषण है फिर भी उसका प्रतिदिन क्षय होता है। इस सबका मूल कारण दुर्भाग्य है क्योंकि दुर्भाग्य का परिणाम सबको भोगना पड़ता है, कोई इसका उल्लंघन नहीं कर सकता। इसमें संदेह नहीं कि दुर्भाग्य के फल से कोई भी बच नहीं सकता।

प्रस्तुत श्लोक में **मालिनी** छन्द तथा **श्लेष** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–दुर्भाग्यपरिणामं लंघयितुं कोऽपि न समर्थ: यथा चन्द्रमा अमृतस्य निधानम्, विभिन्नौषधीनां नायक: शतवैद्यैरावृत:, भगवत: शङ्करस्य शिरोभूषणं भवति तथापि रग्नं राजयक्ष्मा रोग: न त्यजति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

अमृतनिधानम्=अमृतस्य निधानम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

नायक:=√नी+ण्वुल् प्रत्यय।

शतभिषगनुयात:=शतभिषजा अनुयात: ; तृतीया तत्पुरुष समास।

अनुयात:=अनु उपसर्ग √या+क्त प्रत्यय।

विरहयति=वि उपसर्ग √रह्+णिच्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

हतविधिपरिपाक:=हतविधे: परिपाक: ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

लंघनीय=√लङ्घ् +अनीयर् प्रत्यय।

सन्धि-विच्छेद

नायकोऽप्योषधीनां=नायक:+अपि+ओषधीनाम्।

शम्भुमूर्ध्नोऽवतंस:=शम्भुमूर्ध्न:+अवतंस:।

प्रियसख ! विपद्दण्डाघातप्रपातपरम्परा-
परिचयचले चिन्ताचक्रे निधाय विधि: खल:।
मृदमिव बलात्पिण्डीकृत्य प्रगल्भकुलालवद्
भ्रमयति मनो नो जानीम: किमत्र विधास्यति।। 117।।

अन्वयः–हे प्रियसख ! खलः विधिः प्रगल्भकुलालवत् मनः मृदम् इव बलात् पिण्डीकृत्य विपद्दण्डाघातप्रपातपरम्परापरिचयचले चिन्ताचक्रे निधाय भ्रमयति, अत्र किम् विधास्यति इति नो जानीमः।

प्रसंग–विधाता मनुष्य को उसके कर्मों के अनुसार पीड़ा पहुंचाता रहता है–इस विषय को स्पष्ट करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[हे प्रियसख!] हे प्रियमित्र! [खलः] दुष्ट। [विधिः] ब्रह्मा। [प्रगल्भकुलालवत्] कुशल कुम्हार की तरह। [मनः] मेरे मन को। [मृदम् इव] मिट्टी की तरह। [बलात्] बलपूर्वक। [पिण्डीकृत्य] मिट्टी का ढेला बनाकर। [विपद्दण्डाघातप्रपातपरम्परापरिचयचले] विपत्तिरूप डण्डे की चोट से। [चिन्ताचक्रे] चिन्तारूपी चाक पर। [निधाय] रख कर। [भ्रमयति] घुमा रहा है। [अत्र] यहां। [किम् विधास्यति] वह क्या बनाएगा। [इति नो जानीमः] हम नहीं जानते।

सरलार्थ–प्रिय मित्र ! दुष्ट ब्रह्मा निपुण कुम्हार की तरह मेरे मन को मिट्टी के ढेले की भांति बलपूर्वक चिन्तारूपी चाक पर रखकर विपत्ति रूपी डण्डे की चोट से घुमा रहा है। अब वह क्या करेगा यह मैं नहीं जानता।

व्याख्या–ब्रह्मा मनुष्य को उसके कर्मों का क्या फल देगा–ऐसा कोई नहीं जानता किन्तु यह निश्चित है कि हमारे दुष्कर्मों का दुष्परिणाम पीड़ा के रूप में हमें भोगना ही पड़ेगा–सत्य है यह ; यही भाव अभिव्यक्त किया जा रहा है यहां।

हे प्रियमित्र ! जिस प्रकार निपुण कुम्हार मिट्टी को चाक पर रखकर डण्डे के प्रहार से उसे इच्छानुसार घुमाता रहता है उसी प्रकार ब्रह्मा भी मनुष्य के मन को चिन्तायुक्त करके आपत्ति रूपी डंडे की चोट से उसे घुमाता नचाता रहता है और वह आगे उसके प्रति कैसा व्यवहार करेगा, उसे कहां तक चोट पहुंचाएगा उस पर क्या-क्या विपत्तियां आएंगी ऐसा कोई नहीं जानता।

ब्रह्मा की इच्छा को कोई नहीं जानता। मनुष्य के कर्मों के परिणामों से ब्रह्मा की इच्छा पता चलती है। मनुष्य को अपने कर्मों के रूप में भाग्य का लिखा भोगना ही पड़ता है।

प्रस्तुत श्लोक में **हरिणी** छन्द तथा **उपमा** और **रूपक** अलंकार हैं।

संस्कृत-भावार्थः–यथा कुम्भकारः मृत्पिण्डं चक्रे संस्थाप्य दण्डेन नर्तयति तथैव ब्रह्मापि मानवमनः अनेकविधासु चिन्तासु निक्षिप्य विपद्दण्डप्रहारैः बहुशः पीडयति नर्तयति च।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

प्रियसख !=प्रियः चासौ सखा च इति प्रियसखः, सम्बोधन ; कर्मधारय समास।

चिन्ताचक्रे=चिन्ता एव चक्रम्, तस्मिन् ; कर्मधारय समास।

निधाय=नि उपसर्ग √धा+ल्यप् प्रत्यय।

पिण्डीकृत्य=पिण्ड+च्वि प्रत्यय, √कृ+ल्यप् प्रत्यय।

प्रगल्भकुलालवत्=प्रगल्भ: कुलाल: ; तेन तुल्य: इति कर्मधारय समास।

भ्रमयति=√भ्रम्+णिच्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

जानीम:=√ज्ञा, लट् लकार, उत्तम पुरुष, बहुवचन।

विधास्यति=वि उपसर्ग √धा, लृट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद

मनो नो=मन:+नो।

छात्र ध्यान दें कि 'नो' अव्यय पद यहां निषेध (मना) (नहीं) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

विरम विरमायासादस्माद् दुरध्यवसायतो
विपदि महतां धैर्यध्वंसं यदीक्षितुमीहसे।
अयि! जडविधे! कल्पापायेऽप्यपेतनिजक्रमा:
कुलशिखरिण: क्षुद्रा नैते न वा जलराशय:।। 118।।

अन्वय:–अयि! जडविधे! अस्मात् दुरध्यवसायत: आयासात् विरम विरम, यत् विपदि महतां धैर्यध्वंसम् ईक्षितुम् ईहसे। कल्पापाये अपि एते कुलशिखरिण: क्षुद्रा: सन्त: अपेतनिजक्रमा: न, न वा जलराशय: (तादृशा:)।

प्रसंग–'महापुरुष आपत्तियों से घिरे होने पर भी धैर्यविहीन नहीं होते'– इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[अयि! जडविधे!] हे मूर्ख ब्रह्मा!। [अस्मात् दुरध्यवसायत: आयासात्] इस दुष्ट प्रयास से। [विरम विरम] रुक जाओ (छोड़ो)। [यत्] जो [विपदि] विपत्ति में। [महताम्] महापुरुषों के। [धैर्यध्वंसम्] धैर्य का नाश। [ईक्षितुम् ईक्षसे] देखना चाहते हो। [कल्पापाये अपि] कल्पान्त होने पर भी। [एते] ये। [कुलशिखरिण:] कुलपर्वत। [क्षुद्रा: न] छोटे नहीं होते। [अपेतनिजक्रमा: न] अपनी मर्यादा को छोड़ने वाले नहीं होते। [न वा जलराशय:] और न ही समुद्र।

सरलार्थ–हे मूर्ख ब्रह्मा! तुम जो विपत्तिकाल में महापुरुषों के धैर्य के नाश को देखने की इच्छा कर रहे हो–अपने इस दुष्ट प्रयास को छोड़ो। कल्पान्त होने पर भी कुलपर्वत तथा समुद्र इतने छोटे नहीं होते कि अपनी मर्यादा को भंग कर दें।

व्याख्या–महापुरुषों के धैर्य की परीक्षा लेने के लिए विधाता उन पर कठोर आपत्तियों

से प्रहार करता है किन्तु वे फिर भी धैर्यविहीन नहीं होते और न ही मर्यादाओं को भंग होने देते–यही स्पष्ट किया गया है यहां।

अत: ब्रह्मा को मूर्ख कहकर सम्बोधित कर रहे हैं कवि–

हे मूर्ख ब्रह्मा! आपत्ति के समय में तुम महापुरुषों को धैर्यविहीन देखना चाहते हो–सो तुम्हारे लिए सम्भव नहीं होगा–अपने इस दुष्ट प्रयास को तुम छोड़ दो क्योंकि कल्पों के अन्त में भी कुलपर्वत तथा समुद्र इतने छोटे नहीं होते कि वे मर्यादाहीन हो जाएं अर्थात् कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी महापुरुष कभी धैर्यविहीन नहीं होते और न ही अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन करते हैं। वे सब परीक्षाओं में खरे उतरते हैं–तभी तो वे महापुरुष कहलाते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में **हरिणी** छन्द तथा **व्यतिरेक** अलंकार हैं।

संस्कृत-भावार्थ:–यथा कल्पान्तेऽपि कुलपर्वता: समुद्राश्च स्वमर्यादां न परित्यजन्ति तथैव महापुरुषा: विपत्तौ अपि धैर्यं न परित्यजन्ति, ते सदैव निश्चला: तिष्ठन्ति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

विरम=वि उपसर्ग √रम्, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

दुराध्यवसायत:=दुष्ट: अध्यवसाय: यस्मिन् स:, तस्मात् ; बहुव्रीहि समास।

धैर्यध्वंसम्=धैर्यस्य ध्वंस:, तम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

ईक्षितुम्=√ईक्ष्+तुमुन् प्रत्यय।

ईहसे=√ईह्, लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

कल्पापाये=कल्पस्य अपाय:, तस्मिन् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

अपेतनिजक्रमा:=अपेता: निजक्रमा: येषां ते ; बहुव्रीहि समास।

सन्धि-विच्छेद

विरमायासादस्माद्=विरम+आयासात्+अस्मात्।

दुरध्वसायतो विपदि=दुरध्यसायत:+विपदि।

कल्पापायेऽप्यपेतनिजक्रमा:=कल्पापाये+अपि+अपेतनिजक्रमा:।

नैते=न+एते।

दैवेन प्रभुणा स्वयं जगति यद्यस्य प्रमाणीकृतं
तत्तस्योपनमेन्मनागपि महान्नैवाश्रय: कारणम्।
सर्वाशापरिपूरके जलधरे वर्षत्यपि प्रत्यहं
सूक्ष्मा एव पतन्ति चातकमुखे द्वित्रा: पयोबिन्दव:॥ 119॥

अन्वयः–प्रभुणा दैवेन जगति यस्य यत् स्वयं प्रमाणीकृतम् तत् तस्य (स्वयम्) उपनमेत् महान् आश्रयः मनाक् अपि कारणम् न एव। सर्वाशापरिपूरके जलधरे प्रत्यहं वर्षति चातकमुखे सूक्ष्माः एव द्वित्राः पयोबिन्दवः पतन्ति।

प्रसंग–'जिसके भाग्य में विधाता ने जितना लिख दिया है उतना उसे कहीं भी अवश्य ही मिलेगा'–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[प्रभुणा] सर्वशक्तिमान्। [दैवेन] विधाता ने। [जगति] इस संसार में। [यस्य] जिसके। [यत्] जितनी (वस्तु)। [स्वयं प्रमाणीकृतम्] स्वयं निर्दिष्ट कर दी है। [तत्] उतनी। [तस्य] उसे। [उपनमेत्] मिलेगी ही। [महान् आश्रयः] महान् आश्रय। [मनाक् अपि] तनिक भी। [कारणं न एव] कारण नहीं है। [सर्वाशापरिपूरके] सबकी आशा पूरी करने वाला। [जलधरे] बादल। [प्रत्यहम्] प्रतिदिन। [वर्षति] बरसता रहता है। [अपि] फिर भी। [चातकमुखे] चातक के मुंह में। [सूक्ष्माः एव] अत्यंत सूक्ष्म ही। [द्वित्राः]दो तीन। [पयोबिन्दवः] जल की बूंदे। [पतन्ति] गिरती हैं।

सरलार्थ–सर्वशक्तिमान् विधाता ने इस संसार में जिसके भाग्य में जो कुछ अपने आप लिख दिया है वह वस्तु उसे उतनी अवश्य मिलेगी, बड़ा आश्रय उसका तनिक भी कारण नहीं हो सकता। सबकी आशा पूरी करने वाला मेघ प्रतिदिन बरसता रहता है तब भी चातक के मुख में अत्यंत सूक्ष्म दो तीन जल की बूंदें ही गिरती है।

व्याख्या–मनुष्य के भाग्य में विधाता ने जितना लिख दिया है उसे उतना ही मिलेगा–धैर्यविहीन होकर व्याकुल होने से कोई लाभ नहीं। इस विषय को प्रस्तुत करते हुए कवि कहते हैं–

भाग्य सर्वशक्तिमान् है अतः उसने जिसके लिए जितनी वस्तु निर्धारित कर दी है वह उसे अवश्य प्राप्त करेगा। यदि वह सोचे कि महान् आश्रय को प्राप्त करने पर वस्तु की मात्रा भी बढ़ जाएगी ऐसा सोचना निरर्थक है, उदाहरणार्थ मेघ बरसता रहता है तथा चातक मेघ से गिरती हुई जल बूंदों को ही ग्रहण करता है फिर भी उसके मुख में छोटी-छोटी दो तीन बूंदे ही गिर पाती हैं क्योंकि उसके भाग्य में दो तीन बूंदें ही निर्धारित थीं। इसी प्रकार सबको भाग्य के अनुसार ही कुछ भी प्राप्त होता है–उससे कम या अधिक नहीं।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **दृष्टान्त** अलंकार हैं।

संस्कृत-भावार्थः–विधिना संसारे यस्य भाग्ये यत् वस्तु निर्दिष्टं तत् वस्तु सः नरः अवश्यं प्राप्नोति। महताम् आश्रयः अत्र अधिकप्राप्तेः कारणं न भवति–यथा मेघाः सर्वेभ्यः जलं यच्छन्ति किन्तु चातकः द्वित्रिजलबिन्दून् एव प्राप्नोति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

प्रमाणीकृतम्=प्रमाण+च्वि, √कृ+क्त प्रत्यय।

उपनमेत्=उप उपसर्ग √नम्, विधिलिङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सर्वाशापरिपूरके=सर्वेषाम् आशा:, तासाम् परिपूरक:, तस्मिन् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

पतन्ति=√पत्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

चातकमुखे=चातकस्य मुखे ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

द्वित्रा:=द्वौ वा त्रयो वा इति द्वित्रा:।

वर्षति=√वृष्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

प्रत्यहम्=अहनि अहनि इति ; अव्ययीभाव समास।

पयोबिन्दव:=पयसां बिन्दव:; षष्ठी तत्पुरुष समास।

यदि नाम दैवगत्या जगदसरोजं कदाचिदपि जातम्।
अवकरनिकरं विकिरति तत्किं कृकवाकुरिव हंस:।। 120।।

अन्वय:–यदि दैवगत्या जगत् कदाचित् असरोजम् अपि जातम् नाम, तत् किम् हंस: कृकवाकु: इव अवकरनिकरं विकिरति।

प्रसंग–'महापुरुष कभी अपनी मर्यादा का परित्याग नहीं करते'–इस विषय को हंस के उदाहरण से स्पष्ट करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[यदि] यदि। [दैवगत्या] संयोगवश। [जगत्] संसार। [कदाचित्] कभी। [असरोजम्] कमलविहीन। [अपि जातम्] भी हो जाय। [तत् किम्] तो क्या। [हंस:] हंस। [कृकवाकु: इव] मुरगे की तरह। [अविकरनिकरम्] सड़े-गले मांस के ढेर को। [विकिरति] खरोंचता है?

सरलार्थ–यदि संयोगवश संसार कमलों से रहित भी हो जाए तो भी क्या हंस मुरगे की तरह सड़े गले मांस के ढेर में चोंच डालकर कूड़े को खरोंचता है? अर्थात् कभी नहीं।

व्याख्या–महान् पुरुष आपत्ति के समय में भी निन्दित कार्य नहीं करता, वह भूखा प्राण तो दे देगा किन्तु त्याज्य वस्तु ग्रहण नहीं कर सकता। इस विषय को हंस के उदाहरण से प्रस्तुत कर रहे हैं कवि यहाँ।

हंस का भोजन कमल है। यदि कभी संसार कमलविहीन हो जाए तो क्या हंस सड़े गले मांस के घृणित ढेर में से खाने के लिए पदार्थ निकालेगा? नहीं, कभी नहीं। हंस अत्यंत स्वाभिमानी जीव है, वह भूखा मर जाएगा किन्तु घृणित एवं त्याज्य वस्तु कभी ग्रहण नहीं करेगा, अपने स्वाभिमान को नहीं छोड़ेगा, इसी प्रकार महापुरुष भी आपत्ति के समय भी अपने स्वाभिमान को, अपनी मर्यादा को कभी नहीं छोड़ते तथा धैर्यपूर्वक आपत्तियों का सामना करते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में आर्या छन्द तथा उपमा अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–स्वाभिमानी नरः कदापि स्वाभिमानं न परित्यजति। यथा हंसः कमलाभावे मांसं न खादति तथैव महापुरुषाः न कदापि स्वमर्यादां धैर्यञ्च परित्यजन्ति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

दैवगत्या=दैवस्य गतिः, तया ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

असरोजम्=नास्ति सरोजं यत्र तत् ; नञ् बहुव्रीहि समास।

जातम्=√जन्+क्त प्रत्यय।

अवकरनिकरम्=अवकरस्य निकरः, तम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

विकिरति=वि उपसर्ग √कॄ, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सन्धि-विच्छेद

कदाचिदपि=कदाचित्+अपि।

कृकवाकुरिव=कृकवाकुः+इव।

परिचारितव्याः सन्तः यद्यपि कथयन्ति नो सदुपदेशम्।
यास्त्वेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि।। 121।।

अन्वयः–यद्यपि सन्तः सदुपदेशम् नो कथयन्ति तथापि ते परिचारितव्याः। एषां याः तु स्वैरकथाः ताः एव शास्त्राणि भवन्ति।

प्रसंग–'सज्जनों का चरित प्रशंसनीय होता है उनकी बातें कल्याणप्रद होती हैं, अतः उनकी सेवा करनी चाहिए'–इस विषय को प्रस्तुत करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[यद्यपि] यद्यपि। [सन्तः] सज्जन। [सदुपदेशम्] उपदेश। [नो कथयन्ति] न भी दें। [तथापि] फिर भी। [ते] वे। [परिचारितव्याः] सेवा किए जाने चाहिएँ। [एषाम्] इन सत्पुरुषों की। [याः तु] जो। [स्वैरकथाः] स्वेच्छापूर्वक मुख से निकली हुई बातें। [ताः एव] वे ही। [शास्त्राणि भवन्ति] शास्त्र बन जाती हैं।

सरलार्थ–सज्जन चाहे सदुपदेश न भी दें तो भी उनकी सेवा करनी चाहिए क्योंकि उनके मुख से स्वेच्छापूर्वक निकली हुई बातें ही शास्त्र (रूप) हो जाती हैं।

व्याख्या–सत्पुरुष कभी अयोग्य या अनुचित बात बोलते ही नहीं उनके मुख से सदा ज्ञानपूर्ण, तत्त्वपूर्ण तथा ग्राह्य वचन ही निस्सृत होते हैं। अतः उनके वचनों को उपदेश के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए तथा महापुरुषों की तरह उनकी सेवा करनी चाहिए। सत्पुरुष सदा सभी के सम्मान एवं सेवा के पात्र होते हैं–यही भाव है इस श्लोक का।

प्रस्तुत श्लोक में आर्या छन्द है।

संस्कृत-भावार्थः– सज्जनानां मुखात् सदा कल्याणकराणि शास्त्रवचनान्येव निस्सरन्ति। अतः तेषां शुश्रूषया जनः सदैव कल्याणं लभते।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

परिचारितव्याः=परि उपसर्ग √चर्+णिच्+तव्यत् प्रत्यय।

कथयन्ति=√कथ्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

सदुपदेशम्=सन् उपदेशः, तम् ; कर्मधारय समास।

स्वैरकथाः=स्वैराः कथाः ; कर्मधारय समास।

भवन्ति=√भू, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

सन्धि-विच्छेद

यास्त्वेषाम्=याः+तु+एषाम्।

स्वैरकथास्ता एव=स्वैरकथाः+ताः+एव।

छात्र ध्यान रखें कि निषेधार्थक अव्यय पद 'नो' (नहीं) के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

वचो हि सत्यं परमं विभूषणं लज्जाङ्गनायाः कृशता कटौ च
द्विजस्य विद्यैव पुनस्तथा क्षमा शीलं हि सर्वस्य नरस्य भूषणम्।। 122।।

अन्वयः–सत्यं वचः हि परमं विभूषणम् (अस्ति), लज्जा अङ्गनायाः, कृशता कटौ च, विद्या तथा क्षमा पुनः द्विजस्य, शीलं हि सर्वस्य नरस्य भूषणम् अस्ति।

प्रसंग–'सदाचार सभी मनुष्यों का आभूषण है, सदाचार से ही मनुष्य सर्वत्र सम्मान प्राप्त करता है'–इस विषय को प्रस्तुत करते हुए कवि कहते हैं–

शब्दार्थ–[सत्यं वचः] सत्य वचन। [हि] निश्चय से। [परमम्] बहुत बड़ा। [विभूषणम्] आभूषण है। [लज्जा] लज्जा। [अङ्गनायाः] स्त्री का (आभूषण है)। [कृशता] पतलापन। [कटौ] कमर का (आभूषण है)। [च] और। [विद्या] विद्या। [तथा क्षमा] और सहनशीलता। [पुनः द्विजस्य] ब्राह्मण का। [शीलम् हि] सदाचरण तो। [सर्वस्य नरस्य] सभी मनुष्यों का। [भूषणम्] आभूषण है।

सरलार्थ–सत्य वचन बोलना निश्चय ही मनुष्य का बहुत बड़ा आभूषण है, लज्जा स्त्री का आभूषण है, पतलापन कमर का तथा विद्या और सहनशीलता ब्राह्मण का आभूषण है परन्तु सदाचरण तो सभी मनुष्यों का आभूषण है।

व्याख्या–संसार में अनेक आभूषण हैं। उनमें से कुछ नारियों के लिए, कुछ अन्य किसी जाति-विशेष जैसे ब्राह्मण आदि के लिए विशेष रूप से शोभावर्धक कहे जाते हैं किन्तु सदाचार सभी के सौन्दर्य में वृद्धि करने वाला, उन्हें सम्मान प्रदान कराने वाला कहा

जाता है, यथा–सत्यभाषण वाणी का बहुत बड़ा आभूषण माना गया है, लज्जा नारी का, पतलापन कमर की शोभा बढ़ाने वाला तथा विद्या और सहनशीलता ब्राह्मण का आभूषण कहा जाता है जबकि सदाचरण सभी मनुष्यों का तथा सबसे अधिक महत्वपूर्ण आभूषण कहा जाता है। नारी हो या पुरुष अपने सदाचार के कारण मनुष्य सब जगह सम्मान प्राप्त करता है। अत: सभी को सदाचार की सदा रक्षा करनी चाहिए।

संस्कृत-भावार्थ:–सत्यभाषणं वाच: आभूषणं कथ्यते, लज्जा नारीणाम्, क्षीणता मध्यभागस्य, विद्या, सहनशीलता च विशेषत: ब्राह्मणानाम् आभूषणम् इति कथ्यते किन्तु केवलं शीलमेव ईदृशम् आभूषणम् अस्ति यत् समानरूपेण सर्वेषामपि शोभां वर्धयति। अत: सर्वदैव सर्वैरपि सदाचार: पालनीय:।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

विभूषणम्=वि उपसर्ग √भूष्+ल्युट् प्रत्यय।

सन्धि विच्छेद

वचो हि=वच:+हि।

लज्जाङ्गनाया:=लज्जा+अङ्गनाया:।

विद्यैव=विद्या+एव।

पुनस्तथा=पुन:+तथा।

अग्राह्यं हृदयं यथैव वदनं यद्दर्पणान्तर्गतं
भाव: पर्वतसूक्ष्ममार्गविषम: स्त्रीणां न विज्ञायते।
चित्तं पुष्करपत्रतोयतरलं विद्वद्भिराशंसितं
नारी नाम विषांकुरैरिव लता दोषै: समं वर्धिता।। 123।।

अन्वय:–दर्पणान्तर्गतं वदनं यथैव अग्राह्यम् (तथैव) स्त्रीणां यत् हृदयम् (तदपि) अग्राह्यम्, पर्वतसूक्ष्म-मार्ग-विषम: भाव: न विज्ञायते, चित्तं विद्वद्भि: पुष्करपत्रतोयतरलम् आशंसितम्, नारी विषांकुरै: लता इव दोषै: समं वर्धिता नाम।

प्रसंग–नारी के अनेक दोषों का वर्णन किया गया है इस श्लोक में। उनमें विद्यमान चंचलता नामक दोष का वर्णन करते हुए कवि कहता है–

शब्दार्थ–[दर्पणान्तर्गतम्] दर्पण में प्रतिबिम्बित। [वदनम्] मुख को। [यथैव] जिस प्रकार। [अग्राह्यम्] पकड़ना असम्भव होता है। [स्त्रीणाम्] स्त्रियों का। [यत्] जो। [हृदयम्] हृदय। [पर्वतसूक्ष्ममार्गविषम:] पर्वत के सूक्ष्म मार्ग की तरह जानने में कठिन। [भाव:] स्त्रियों के आन्तरिक भाव। [न विज्ञायते] नहीं जाने जा सकते। [चित्रम्] स्त्रियों का मन। [विद्वद्भि:] विद्वानों के द्वारा। [पुष्करपत्रतोयतरलम्] कमल के पत्ते पर पड़े हुए

जल की तरह चञ्चल। [आशंसितम्] बताया गया है। [नारी] स्त्री। [विषांकुरैः] विषैले अंकुरों से युक्त। [लता इव] लता की तरह। [दोषैः समम्] दोषों के साथ। [वर्धिता] बढ़ती है।

सरलार्थ-जिस तरह दर्पण में प्रतिबिम्बित चेहरे को पकड़ना असम्भव होता है उसी तरह नारी-हृदय को जानना (समझना) असम्भव होता है, उनके अन्तःकरण के भाव को जानना उसी प्रकार कठिन होता है जैसे पर्वत के सूक्ष्म मार्ग का पता लगाना कठिन होता है। विद्वानों के द्वारा स्त्रियों का चित्त कमल के पत्ते पर पड़े हुए जल की तरह चञ्चल बताया गया है। सचमुच स्त्री विषैले अंकुरों के साथ बढ़ी हुई लता की तरह भयानक होती है।

व्याख्या-स्त्री के हृदय को, उसके मनोभावों को समझना अत्यंत कठिन है, अतः उसे विषैले अंकुरों के साथ बढ़ी हुई लता के समान भयानक बताते हुए कवि कहते हैं-जिस प्रकार दर्पण में दिखाई देने वाले प्रतिबिम्ब को कोई पकड़ नहीं सकता, उसी प्रकार नारी के हृदय को जानना या उसे वश में करना असम्भव होता है। जिस प्रकार पर्वतीय मार्ग इतने दुर्गम तथा सूक्ष्म होते हैं कि वहां से अपने लक्ष्य तक पहुंचने का निश्चय नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार नारी मनोभावों को जानना भी सम्भव नहीं हो सकता। जिस प्रकार कमल के पत्ते पर पड़ा हुआ जल क्षण भर के लिए मोती के समान सुन्दर लगता है और उसकी सुन्दरता क्षणिक होती है, उसी प्रकार स्त्री हृदय भी प्रतिक्षण परिवर्तनशील और चञ्चल होता है, वे अपनी बात पर दृढ़ नहीं रहतीं। इन सबके अतिरिक्त स्त्री को विषैले अंकुरों के साथ पाली हुई लता की तरह भयानक कहा गया है। जिस प्रकार लता अपने समीपवर्ती पौधों के या अन्य लताओं के विषैले गुणों को अपने अन्दर समेट लेती है और वह भयंकर हो जाती है उसी प्रकार नारी हृदय भी अनेक दोषों से युक्त होने के कारण भयानक हो जाता है।

इस प्रकार कवि ने नारी को अनेक दुर्गुणों से युक्त बताया है।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द है।

संस्कृत-भावार्थः-नार्यः मनः चञ्चलम्, भावः दुर्ज्ञेयः, हृदयञ्च अग्राह्यं भवति। विषाङ्कुरैः सह वर्धिता विषलता इव सा अनर्थाय एव भवति कल्याणाय न। एवं नार्यां बहवो दोषाः भवन्ति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

अग्राह्यम्=न ग्राह्यम् इति ; नञ् तत्पुरुष समास।

दर्पणान्तर्गतम्=दर्पणस्य अन्तार्गतम् ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

विज्ञायते=वि उपसर्ग √ज्ञा+कर्मणि यक्, आत्मनेपद, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

आशंसितम्=आ उपसर्ग √शंस्+क्त प्रत्यय।

वर्धिता=√वृध्+णिच्+क्त् प्रत्यय।

सन्धि-विच्छेद

यथैव=यथा+एव।

विद्वद्भिराशंसितम्=विद्वद्भि:+आशंसितम्।

विषाङ्कुरैरिव=विषाङ्कुरै:+इव।

छात्र ध्यान दें कि यहां 'समम्' (साथ) शब्द के प्रयोग के कारण 'दोषै:' शब्द में तृतीया विभक्ति प्रयुक्त हुई है।

क्षुद्राः सन्ति सहस्रशः स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः।
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोतःपतिं वाडवो
जीमूतन्तु निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छित्तये।। 124।।

अन्वयः-सहस्रशः क्षुद्राः सन्ति (ये) स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः। परार्थः एव यस्य स्वार्थः सः एकः पुमान् सताम् अग्रणीः वाडवः दुष्पूरोदरपूरणाय स्रोतः पतिम् पिबति। जीमूतन्तु निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छित्तये भवति।

प्रसंग-अपना भरण-पोषण करने वाले लोग तो इस संसार में बहुत हैं किन्तु दूसरे के उपकार को ही स्वार्थ मानने वाले सत्पुरुष अत्यंत विरले होते हैं-इस भाव को प्रतिपादित करते हुए कवि कहते हैं-

शब्दार्थ-[स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः] केवल अपने भरण-पोषण में प्रयत्नशील। [क्षुद्राः] नीच। [सहस्रशः] हजारों। [सन्ति] हैं। [परार्थः एव] केवल परोपकार को ही। [यस्य] जिसका। [स्वार्थः] स्वार्थ। [सः] वह। [एकः] एक (विरला)। [पुमान्] पुरुष। [सताम्] सज्जनों में। [अग्रणीः] अग्रगण्य है। [वाडवः] वडवानल। [दूष्पूरोदरपूरणाय] कभी न भरने वाले पेट को भरने के लिए। [स्रोतः पतिम्] समुद्र को। [पिबति] पीता है। [जीमूतम्ः तु] बादल तो। [निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छित्तये] ग्रीष्म के ताप से संतप्त संसार की गर्मी को दूर करने के लिए (होता है)।

सरलार्थ-हजारों नीच लोग हैं जो केवल अपने ही भरण-पोषण के व्यापार में व्यस्त रहते हैं किन्तु जो दूसरे के हित को अपना हित समझता है वही एक मनुष्य सज्जनों में अग्रगण्य है। वडवानल (समुद्र में लगने वाली आग) अपने कभी न भरने वाले पेट को भरने के लिए समुद्र को पीता है किन्तु मेघ ग्रीष्म के ताप से संतप्त होकर भी संसार के ताप को नष्ट करने के लिए समुद्र को पीता है।

व्याख्या–बहुत ही कम लोग दूसरों के हित सम्पादन में अपना हित समझते हैं–इस विषय का प्रतिपादन करते हुए कवि कहते हैं–संसार के अधिकांश लोग केवल अपने भरण-पोषण के कार्यों में ही व्यस्त रहते हैं किन्तु जो परहित को ही अपना हित समझते हैं ऐसे श्रेष्ठ सज्जन निस्संदेह विरले होते हैं। वडवानल समुद्र का सारा जल सोख जाता है तब कहीं उसकी अग्नि शांत होती है, इसके विपरीत मेघ इतना उदार हृदय है कि वह लोगों के ग्रीष्म ऋतु की गर्मी के कष्ट को दूर करने के लिए समुद्र के जल को स्वयं पीता है तथा पुनः वर्षा के रूप में जल बरसाकर लोगों के ताप को शान्त करता है। इस प्रकार जीमूत मेघ (बरसने वाले बादल) की तरह कुछ ही लोग दूसरों का उपकार करने में ही आनन्द प्राप्त करते हैं। दूसरों के कष्टों को दूर करने की भावना संसार के कुछ ही लोगों में होती है। अधिकांश लोग वडवानल की तरह किसी का उपकार नहीं करते।

प्रस्तुत श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द तथा दृष्टान्त अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थः–संसारे बहवः जनाः केवलं स्वपोषणकार्ये एव संलग्नाः दृश्यन्ते। विरलाः एव सत्पुरुषाः परहितसाधने तत्पराः भवन्ति। वडवानलः सागरस्य जलमादाय कस्यापि उपकारं न करोति किन्तु मेघः सागरस्य जलं पीत्वा पुनः वर्षणेन संसारतापं दूरीकरोति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

सहस्रशः=सहस्र शब्द+शस्। (अव्यय)।

सन्ति=√अस्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन।

स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः=स्वस्य भरणस्य व्यापारमात्रे उद्यताः ; सप्तमी तत्पुरुष समास।

परार्थः=परेषाम् अर्थः ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

पिबति=√पा, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

स्रोतः पतिम्=स्रोतसाम् पतिः, तम् ; षष्ठी तत्पुरु समास।

सन्धि-विच्छेद

स्वार्थो यस्य=स्वार्थः+यस्य।

परार्थ एव=परार्थः+एव।

वाडवो जीमूतन्तु=वाडवः+जीमूतम्+तु।

किं कूर्मस्य भरव्यथा न वपुषि क्ष्मां न क्षिपत्येष यत्
किं वा नास्ति परिश्रमो दिनपतेरास्ते न यन्निश्चलः।
किन्त्वङ्गीकृतमुत्सृजन्स्वमनसा श्लाघ्यो जनो लज्जते
निर्वाहः प्रतिपन्नवस्तुषु सतामेतद्धि गोत्रव्रतम्।। 125।।

अन्वयः–यत् एव एषः क्ष्माम् न क्षिपति तत् किं कूर्मस्य वपुषि भरव्यथा न (भवति),

यत् निश्चल: न आस्ते तत् किम् दिनपते: परिश्रम: नास्ति, किन्तु श्लाघ्य: जन: अङ्गीकृतम् उत्सृजन् स्वमनसा लज्जते, हि प्रतिपन्नवस्तुषु निर्वाह: एतत् सताम् गोत्रव्रतम्।

प्रसंग–'सज्जन जिस बात को एक बार स्वीकार कर लेते हैं उसका आजीवन निर्वाह करते हैं, उसका परित्याग वे कभी नहीं करते'–इस विषय का प्रतिपादन कर रहे हैं कवि इस श्लोक में–

शब्दार्थ–[किम्] क्या। [कूर्मस्य] कच्छपराज के। [वपुषि] शरीर में। [भरव्यथा] भार के कारण कष्ट। [न] नहीं होता। [यत् एव] जो कि। [एष:] यह। [क्ष्माम्] पृथ्वी को। [न] नहीं। [क्षिपति] फेंक देता। [किम्] क्या! [दिनपते:] सूर्य को। [परिश्रम:] थकावट। [न अस्ति] नहीं होती। [यत्] जो कि। [निश्चल:] निश्चल होकर। [न आस्ते] नहीं बैठता। [किन्तु] परन्तु। [श्लाघ्यजन:] प्रशंसनीय पुरुष। [अङ्गीकृतम्] स्वीकृत को। [उत्सृजन्] छोड़ते हुए। [स्वमनसा] अपने मन में [लज्जते] लज्जा अनुभव करता है। [प्रतिपन्नवस्तुषु] स्वीकृत वस्तुओं का। [निर्वाह:] (अन्त तक) निर्वाह करना। [एतत्] यह। [हि] निश्चय ही। [सताम्] सज्जनों का। [गोत्रव्रतम्] कुलव्रत है।

सरलार्थ–क्या (भगवान्) कच्छप के शरीर में भार से कष्ट नहीं होता जो वह अपनी पीठ से पृथ्वी को नीचे नहीं फेंक देते ; क्या सूर्य को थकावट नहीं होती जो वह स्थिर होकर नहीं बैठता किन्तु (वास्तविकता तो यह है कि) प्रशंसनीय पुरुष स्वीकृत कार्य को छोड़ने में लज्जा अनुभव करता है और स्वीकृत वस्तुओं का अन्त तक निर्वाह करना निश्चय से सज्जनों का कुलव्रत है।

व्याख्या–कच्छपराज तथा सूर्य के कार्यों का उदाहरण देकर कवि यह सिद्ध करना चाहते हैं कि महापुरुष एक बार जो कार्य स्वीकार कर लेते हैं उसका वह आजीवन पालन करते हैं, वे स्वीकृत कार्य को कभी नहीं छोड़ते चाहे उन्हें प्राण ही क्यों न छोड़ने पड़ें।

कछुआ सदा पृथ्वी के भार को अपनी पीठ पर धारण किए रखता है। चाहे उसे इतने बड़े भार से कष्ट क्यों न हो वह इस भार को अपनी पीठ से नीचे नहीं गिराता। इसी प्रकार सूर्य पूरे दिन आकाश में भ्रमण करता रहता है, वह कभी टिककर (स्थिर होकर) नहीं बैठता, चाहे वह कितना थक क्यों न जाए। ठीक इसी पकार महापुरुष एक बार जिस कार्य को करने का दायित्व स्वीकार कर लेते हैं आजीवन उसको निभाते हैं। वे उसका परित्याग कभी नहीं करते क्योंकि स्वीकृत कार्य को निभाना उनके कुल का व्रत होता है, वे इस व्रत से कभी पीछे नहीं हटते।

प्रस्तुत श्लोक में **शार्दूलविक्रीडित** छन्द तथा **दृष्टान्त** अलंकार है।

संस्कृत-भावार्थ:–कूर्म: नित्यं पृथ्वीं स्वपृष्ठे वहति। भाराधिक्येन पीडितो भूत्वा अपि स: स्वकर्तव्यमार्गात् न विचलति ; एवमेव सूर्योऽपि सर्वं दिनं गगने भ्रमति। स:

कदापि श्रान्तिं नानुभवति। एवं सज्जनानामपि एतत् व्रतमस्ति यत् ते स्वीकृतं कार्यं प्राणपणेन सम्पादयन्ति, न कदापि अपूर्णं परित्यजन्ति।

व्याकरणात्मक-टिप्पणी

भरव्यथा=भरस्य व्यथा ; षष्ठी तत्पुरुष समास।

क्षिपति=√क्षिप् लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

आस्ते=√आस्, आत्मनेपद, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

उत्सृजन्=उत् उपसर्ग √सृज्+शतृ प्रत्यय।

लज्जते=√लज्ज्, लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

प्रतिपन्नवस्तुषु=प्रतिपन्नानि वस्तूनि, तेषु ; कर्मधारय समास।

सन्धि-विच्छेद

क्षिपत्येष यत्=क्षिपति+एष:+यत्।

नास्ति=न+अस्ति।

परिश्रमो दिनपतेरास्ते=परिश्रम:+दिनपते:+आस्ते।

यन्निश्चल:=यत्+निश्चल:।

किन्त्वङ्गीकृतम्=किन्तु+अङ्गीकृतम्।

श्लाघ्यो जनो लज्जते=श्लाघ्य:+जन:+लज्जते।

एतद्धि=एतत्+हि।

।। इति नीतिशतकम्।।

(समाप्तम्)

श्लोकानुक्रमणिका

(अकारादिक्रम से)

	श्लोक	पृष्ठ-संख्या		श्लोक	पृष्ठ-संख्या
1.	अकरुणत्वमकारणविग्रहः	80	26.	को लाभो गुणिसंगमः	158
2.	अग्राह्यं हृदयं	184	27.	क्वचित्पृथ्वीशय्यः	129
3.	अज्ञः सुखमाराध्यः	14	28.	क्षान्तिश्चेत्कवचेन किं	38
4.	अधिगतपरमार्थान्	33	29.	क्षीरेणात्मगतोदकाय	113
5.	अप्रियवचनदरिद्रैः	161	30.	क्षुत्क्षामोऽपि	49
6.	अम्भोजिनीवनविहार०	34	31.	क्षुद्राः सन्ति सहस्रशः	186
7.	अयममृतनिधानं	175	32.	खल्वाटो दिवसेश्वरस्य	137
8.	आज्ञा कीर्तिः	74	33.	गुणवदगुणवद्वा	151
9.	आरम्भगुर्वी क्षयिणी	91	34.	छिन्नोऽपि रोहति	124
10.	आलस्यं हि मनुष्याणां	131	35.	जयन्ति ते सुकृतिनो	43
11.	इतः स्वपिति केशवः	115	36.	जाड्यं धियो हरति	41
12.	उद्भासिताखिलखलस्य	90	37.	जाड्यं ह्रीमति	82
13.	एकेनापि हि शूरेण	164	38.	जातः कूर्मः स एकः	170
14.	एते सत्पुरुषाः	111	39.	जातिर्यातु रसातलं	61
15.	एको देवः	102	40.	तानीन्द्रियाणि	63
16.	ऐश्वर्यस्य विभूषणं	125	41.	तृष्णां छिन्धि भज क्षमां	117
17.	कदर्थितस्यापि हि	162	42.	त्वमेव चातकाधारो	78
18.	करे श्लाघ्यस्त्यागः	97	43.	दाक्षिण्यं स्वजने दया	40
19.	कर्मायत्तं फलं	136	44.	दानं भोगो	67
20.	कान्ताकटाक्षविशिखा	163	45.	दिक्कालाद्यनवच्छिन्न०	13
21.	किं कूर्मस्य भरव्यथा	187	46.	दुर्जनः परिहर्तव्यो	81
22.	किं तेन हेमगिरिणा	127	47.	दैवेन प्रभुणा स्वयं	179
23.	कृमिकुलचितं	22	48.	दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति	66
24.	केयूराणि न भूषयन्ति	35	49.	न कश्चिच्चण्डकोपानाम्	87
25.	को न याति वशं लोके	174	50.	नमस्यामो देवान्नु	143

	श्लोक	पृष्ठ-संख्या		श्लोक	पृष्ठ-संख्या
51.	नम्रत्वेनोन्नमन्तः	104	83.	यदि नाम दैवगत्या	181
52.	निन्दन्तु नीतिनिपुणाः	121	84.	यद्धात्रा निजभालपट्ट०	76
53.	नेता यस्य बृहस्पतिः	134	85.	यस्यास्ति वित्तं	65
54.	नैवाकृतिः फलति	147	86.	या साधूंश्च खलान्	149
55.	पत्रं नैव यदा करीरविटपे	142	87.	यां चिन्तयामि	166
56.	पद्माकरं दिनकरो	110	88.	येषां न विद्या	27
57.	परिक्षीणः कश्चित्	70	89.	रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न	120
58.	परिचारितव्याः सन्तः	182	90.	राजन् ! दुधुक्षसि	72
59.	परिवर्तिनि संसारे	54	91.	रे रे चातक ! सावधान०	79
60.	पातितोऽपि कराघातैः	130	92.	लज्जागुणौघजननीम्	165
61.	पापान्निवारयति	108	93.	लभेत सिकतासु	16
62.	प्रदानं प्रच्छन्नं	96	94.	लांगूलचालनमधः	53
63.	प्रसह्यं मणिमुद्धरेत्	15	95.	लोभश्चेदगुणेन किं	84
64.	प्राणाघातान्निवृत्तिः	45	96.	वचो हि सत्यं	183
65.	प्रारभ्यते न खलु	47	97.	वने रणे शत्रुजलाग्नि०	148
66.	प्रिया न्याय्या वृत्तिः	48	98.	वरं पक्षच्छेदः	58
67.	प्रिसख ! विपद्दण्डाघात	176	99.	वरं पर्वतदुर्गेषु	29
68.	प्रीणाति यः सुचरितैः	101	100.	वरं शृङ्गोत्संगाद्	171
69.	बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः	168	101.	वहति भुवनश्रेणिं	56
70.	ब्रह्मा येन कुलालवत्	145	102.	वह्निस्तस्य जलायते	123
71.	भग्नाशस्य करण्डपिण्डिततनोः	132	103.	वाञ्छा सज्जनसंगमे	93
72.	भवन्ति नम्रास्तरवः	106	104.	विद्या नाम नरस्य	37
73.	भीमं वनं भवति तस्य	156	105.	विपदि धैर्यम्	95
74.	मज्जत्वम्भसि	155	106.	विरम विरमायासाद्	178
75.	मणिः शाणोल्लीढः	69	107.	व्यालं बालमृणाल०	18
76.	मनसि वचसि काये	119	108.	शक्यो वारयितुं	24
77.	मालतीकुसुमस्येव	159	109.	शशिदिवाकरयोः	139
78.	मृगमीनसज्जनानाम्	92	110.	शशी दिवसधूसरो	86
79.	मौनान्मूकः	88	111.	शास्त्रोपस्कृतशब्द०	29
80.	यथा कन्दुकपातेनोत्पतति	173	112.	शिरः शार्वं	23
81.	यदचेतनोऽपि	59	113.	श्रोत्रं श्रुतेनैव	107
82.	यदा किंचिज्ज्ञोऽहं	20	114.	सत्याऽनृता च परुषा	73

श्लोक	पृष्ठ-संख्या
115. सन्तप्तायसि	100
116. सन्त्यन्येऽपि बृहस्पति०	55
117. संपत्सु महतां चित्तं	98
118. साहित्यसंगीत०	26
119. सिंहः शिशुरपि	60
120. सूनुः सच्चरितः	44
121. सृजति तावदशेषगुणाकरं	140
122. स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां	153
123. स्वल्पस्नायुवसावशेष०	51
124. स्वायत्तममेकान्तगुणम्	19
125. हर्तुर्याति न गोचरं	31

अन्य छात्रोपयोगी ग्रन्थ

संस्कृतपाठ्यसंकलन	डॉ. शशि तिवारी
दूतवाक्यम्	डॉ. शशि तिवारी
केनोपनिषद् (भूमिका और व्याख्या)	डॉ. शशि तिवारी
राष्ट्रीयता एवं भारतीय साहित्य	डॉ. शशि तिवारी
मुण्डकोपनिषद्	डॉ. जियालाल कम्बोज
उत्कीर्णलेखस्तबकः	डॉ. जियालाल कम्बोज
सौन्दरनन्दमहाकाव्यम्	डॉ. जियालाल कम्बोज
संस्कृत निबन्धाञ्जलिः	डॉ. सावित्री गुप्ता
किरातार्जुनीयम् (प्रथम सर्ग)	डॉ. सावित्री गुप्ता
किरातार्जुनीयम् (1-2 सर्ग)	डॉ. सावित्री गुप्ता
छन्दोऽलङ्कारसौरभम्	डॉ. सावित्री गुप्ता
प्रतिमानाटकम्	डॉ. सावित्री गुप्ता
नीतिशतकम्	डॉ. सावित्री गुप्ता
मनुस्मृतिः (द्वितीय अध्याय)	डॉ. राकेश शास्त्री
मनुस्मृतिः (सप्तम अध्याय)	डॉ. राकेश शास्त्री
नाट्यशास्त्रम् (1,2,6 अध्याय)	प्रो. ब्रजमोहन चतुर्वेदी
ईशावास्योपनिषद्	डॉ. शर्मिष्ठा शर्मा
लघुसिद्धान्तकौमुदी	डॉ. रमण कुमार शर्मा
शुकनासोपदेशः	डॉ. अर्चना त्यागी
पञ्चतन्त्रम् (लब्धप्रणाशम्)	डॉ. कमलेश गर्ग
वैदिकसूक्तमञ्जरी	डॉ. कामिनी तनेजा
आधुनिक संस्कृत साहित्य संचयन	डॉ. गिरीशचन्द्र पंत
मन्दारमञ्जरी	डॉ. युद्धवीर सिंह

विद्यानिधि प्रकाशन

डी-10/1061 (समीप श्रीमहागौरी मन्दिर)
खजूरी खास, दिल्ली-110094
मो. 09868912570